मार्क्सवाद व मानव समाज के विकास पर

शिवदास घोष

मार्क्सवाद व मानव समाज के विकास पर

क्रांतिकारी फर्ज निभाने और अपनी हर तरह से मुक्ति हासिल करने के लिए सत्य को जानने की जरूरत सर्वहारा वर्ग को सबसे ज्यादा है। विज्ञान के नियमों को बारीकी से जानना और ज्ञान जगत की सभी शाखाओं को व्याप्त कर यह ज्ञान साध ना लगातार जारी रखने की जरूरत शोषित-पीड़ित जनता को ही सबसे ज्यादा है। एक राजनैतिक शिक्षण शिविर में किसान-खेत मजदूरों को संबोधित करते हुए दिया गया यह भाषण भौतिकवादी चिंतन और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से सामाजिक विकास की धारा का एक संक्षिप्त विश्लेषण है। मौजूदा मरणासन्न स्तर में पूंजीवाद किस तरह विज्ञान और समाज की बेरोकटोक प्रगति व विकास में बाधा पैदा कर रहा है—यह दिखाते हुए यह भी इस चर्चा के जरिये स्पष्ट किया गया है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के साथ दूसरे दर्शनों का बुनियादी फर्क क्या है।

मार्क्सवाद ही एकमात्र वह दर्शन है, जो सत्य की खोज के क्षेत्र में हमारी सच्ची मदद कर सकता है। मार्क्सवाद के सिवा अन्य कोई दर्शन या विचारधारा सत्य के संबंध में सम्पूर्ण रूप से रोशनी डालने में सक्षम नहीं है। यही कारण है कि हम मार्क्सवाद को ग्रहण करते हैं, मार्क्सवाद को लेकर चर्चा करना इतना महत्वपूर्ण मानते हैं और अपने को मार्क्सवादी कहकर परिचय देते हैं। प्रचलित अन्य दर्शनों या विचारधाराओं से मार्क्सवाद का यही मौलिक अंतर है कि अन्य दर्शन जहां ज्ञान प्रप्ति के लिए मनुष्य की व्यक्तिगत बुद्धि, चिंतन की क्षमता या किसी एक विशेष दार्शनिक की चिंतन-शक्ति और विचार-शक्ति पर ही मुख्यत: प्रधानता दिया करते हैं, वहीं मार्क्सवाद ज्ञान हासिल करने के मामले में पूरी तरह परीक्षण-निरीक्षण, वास्तविक अनुभव,

इतिहास और तर्क विज्ञान पर निर्भर करता है। मार्क्सवाद का मानना है कि परीक्षण-निरीक्षण, वास्तविक अनुभव, इतिहास और तर्क विज्ञान द्वारा उपलब्ध ज्ञान के सिवा कोई ज्ञान सही ज्ञान भी नहीं है और किसी सत्य को सही रूप से जानना संभव भी नहीं है। अत: सत्य निर्धारण के मामले में किसी व्यक्ति की मात्र चिंतन शक्ति और बुद्धि पर ही निर्भर नहीं किया जा सकता। मनुष्य की चिंतन शक्ति और बुद्धि की तो जरूरत है ही, लेकिन इसके साथ ही वास्तविक अनुभव और निरीक्षण-परीक्षण के जरिये ही सत्य की समझ हासिल करनी होगी, सत्य का निर्धारण करना होगा। अत: मार्क्सवाद पूरी तरह से विज्ञान आधारित है। क्योंकि, परीक्षण द्वारा प्राप्त सत्य ही इसका आधार है—वैज्ञानिक निरीक्षण-परीक्षण और वैज्ञानिक सत्यों पर ही इसका पूरा ढांचा खड़ा है। इसके ढांचे का निर्माण मनुष्य की मनगढ़ंत सोच और विश्लेषण पर नहीं हुआ है। अन्य दर्शन जहां विज्ञान पर अंकुश लगाना चाहते हैं, वैज्ञानिक सत्यों को नकारना चाहते हैं—कुछ मनगढ़ंत धारणाओं और व्यक्ति के विश्वास पर निर्भर होकर चलना चाहते हैं, वहीं मार्क्सवाद वैज्ञानिक सत्यों पर खड़ा होना चाहता है, विज्ञान के विशेष सत्यों को संयोजित कर आम सत्य तक पहुंचना चाहता है।

केवल विज्ञान की सहायता से ही सत्य की जानकारी संभव

दूसरे-दूसरे दर्शन क्या करते हैं? दूसरे दर्शनों का मानना है कि विज्ञान खास-खास मामलों में कुछ सत्यों का आविष्कार कर सकता है—लेकिन दुनिया के बारे में मूल सत्य की समझ हासिल करना विज्ञान द्वारा संभव नहीं है। उनकी धारणा या कल्पना के अनुसार जिस सत्ता का अस्तित्व वस्तु से परे है, विज्ञान उसकी जानकारी नहीं दे सकता। इसलिए उनका मानना है कि विज्ञान की सहायता से तमाम सत्यों और जीवन के तमाम पहलुओं की जानकारी संभव नहीं है। तो फिर, उनके मुताबिक उन सत्यों की जानकारी किस प्रकार संभव है? उन दर्शनों के मतानुसार वह जानकारी व्यक्ति की आत्मानुभूति के जरिये ही संभव है। तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि पूरे मानव समाज की समझ और तजुर्बों से जिस विज्ञान का जन्म हुआ है, उस विज्ञान

के समग्र प्रयास से जो चीज संभव नहीं है–किसी खास मनीषी के विश्वास और उनकी व्यक्तिगत समझदारी या आत्मानुभूति के जरिये वह संभव है–मार्क्सवाद ऐसी बेतुकी बात नहीं मानता, मान ही नहीं सकता। मार्क्सवाद का मानना है कि किसी एक व्यक्ति की सत्य को जानने की जो क्षमता है, सत्य को जानने के मामले में विज्ञान की क्षमता उससे काफी ज्यादा है। इसलिए सत्य को जानने के मामले में किसी आदमी के विश्वास या व्यक्तिगत समझदारी पर निर्भर करने की बजाय विज्ञान पर निर्भर करना ही तर्कसंगत है। दूसरे तमाम दर्शनों से मार्क्सवाद का यहां एक बुनियादी फर्क है।

क्या है दर्शन का कार्य

दूसरे दर्शनों के साथ मार्क्सवाद का दूसरा फर्क यह है कि वे तमाम दर्शन ही अब तक दुनिया को जानते आये हैं, उसकी व्याख्या करते आये हैं–कम से कम जानने की कोशिश की है–कितना जान पाये या नहीं–यह अलग सवाल है। क्योंकि, दर्शन की कोशिश है दुनिया को जानना, विभिन्न समस्याओं और सत्य के संबंध में सही समझदारी हासिल करना। मार्क्सवाद के आने से पहले तक दर्शन का काम दुनिया की विभिन्न घटनाओं की सिर्फ व्याख्या करना था। मार्क्सवाद ही एकमात्र वह दर्शन है, जिसने पहले-पहल कहा कि सिर्फ जानने का कोई मायने नहीं है। मार्क्सवाद ने कहा कि सिर्फ जानने से क्या फायदा, अगर उस प्राप्त ज्ञान का वास्तव में प्रयोग न किया जाये? यानी मार्क्सवाद का कहना है कि दुनिया को सिर्फ जानना ही दर्शन का काम नहीं है, बल्कि दुनिया को बदलना भी दर्शन का काम है। इस तरह हम देख पाते हैं कि मार्क्सवादी दर्शन का अन्य दर्शनों से एक फर्क यह भी है कि अन्य दर्शनों का काम जहां दुनिया की सिर्फ व्याख्या करना है, वहीं मार्क्सवाद का काम सिर्फ व्याख्या करना ही नहीं, बल्कि जानना, व्याख्या करना, सही रूप में समझना और दुनिया के परिवर्तन को तेज करने में मदद करना है। अत: हमें मार्क्सवाद को समझना हो, तो दार्शनिक चिंतन के एक क्रमवार इतिहास के बारे में और दर्शन के विकास के इतिहास के बारे में हमारे अंदर मोटे तौर पर एक धारणा होनी चाहिए ही। एक क्लास में इसके सभी पहलुओं पर

चर्चा करना असंभव होते हुए भी, जितना समय मिल पायेगा, मैं मुख्य-मुख्य बातों को रखने की भरसक कोशिश करूंगा।

चिंतन की उत्पत्ति और मानव सभ्यता का विकास

इस संबंध में चर्चा के आरंभ में ही मैं आप लोगों से एक बात कहना चाहता हूं। वह यह कि अन्य जीव-जन्तुओं के साथ मनुष्य का एक मौलिक अंतर है। वह अंतर क्या है? वह अंतर यह है कि मनुष्य अपने मस्तिष्क के सहारे चिंतन, विचार-विश्लेषण करने में सक्षम है। मनुष्य इस विशेषता को लेकर ही दुनिया में आया है। अन्य जीव-जन्तुओं में अनुभूति है, स्नायुविक उत्तेजना है, परन्तु उनमें चिंतन करने और विचार-विश्लेषण करने की क्षमता नहीं है। मनुष्य में यह चिंतन करने की क्षमता मात्र उसके मस्तिष्क के गठन के फलस्वरूप ही संभव हुई है। इसी क्षमता के कारण मनुष्य बाकी तमाम जीव-जन्तुओं से पूरी तरह अलग है। अन्य जीव-जन्तु आज भी पूरी तरह प्राकृतिक नियमों के अधीन हैं, अर्थात वे पूरी तरह से प्राकृतिक नियमों के दास हैं। उनमें से कोई भी प्राकृतिक नियमों की दासता से ऊपर नहीं उठ सका—वे प्रकृति को वश में नहीं कर सके। इसलिए वे वन-जंगलों में प्राकृतिक नियम के मुताबिक जितने दिनों तक जिन्दा रह सकते हैं, जिन्दा रहते हैं—जिन्दा रहने की काशिश करते हैं। यह कोशिश न करें तो खत्म हो जाते हैं या फिर जैसे-तैसे जिन्दा रहते हैं। किन्तु मनुष्य के मामले में, उसके बचे रहने या जिन्दा रहने की कोशिश के जरिये हमें एक नयी चीज देखने को मिली है। मनुष्य ने प्राकृतिक नियमों के पूरी तरह वश में रहना नहीं चाहा। उसने प्रकृति के नियमों को जाना, समझा—प्राकृतिक शक्तियों को अपने काबू में लाकर उन्हें सभ्यता, संस्कृति और सामाजिक जीवन के निर्माण के कार्य में इस्तेमाल करना सीखा। इसी का नतीजा है कि मनुष्य समाजबद्ध होकर, सभ्य होकर, ज्ञान-विज्ञान की तरक्की कर, संस्कृति का निर्माण कर आज वर्तमान अवस्था में आ पहुंचा है। लेकिन मानव समाज का यह विकास एक ही दिन में नहीं हो गया। इसका एक लम्बा इतिहास है। मनुष्य सदा से इस स्थिति में नहीं था। शुरुआत में एक ऐसा समय भी था, जब वह अन्य प्राणियों की तरह वन-जंगलों में प्राकृतिक नियमों की प्रायः पूर्ण अधीनता में ही रहा करता था। चिंतन करने की

क्षमता के सिवा दूसरे जन्तु-जानवरों के साथ उसका कोई और खास फर्क नहीं था। मानव मस्तिष्क के आधार पर मनुष्य के पास जो चिंतन-शक्ति है—जो कि अन्य जीव-जन्तुओं में नहीं है, उसी के नतीजतन दुनिया के समस्त जीवों में से एकमात्र मनुष्य ने ही परिवेश को समझना, प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करना और विभिन्न समस्याओं के समाधान का उपाय निकालना सीखा है। इस प्रकार आदिम मानव ने उस प्रारंभिक काल में जिस हद तक चिंतन करना सीखा था, उससे वह इतना समझ सका था कि अकेले-अकेले जिन्दा रहने की कोशिश करना मूर्खता है। इस तरह वह जिन्दा नहीं रह सकता। प्रतिकूल परिवेश में जिन्दा रहने और टिके रहने के लिए समूह में रहना जरूरी है। जिन्दा रहने की गर्ज से प्राकृतिक शक्तियों के साथ, परिवेश के साथ, प्रतिकूल परिस्थिति के विरुद्ध संघर्ष करते हुए उसे जो पहला बोध हुआ, जो पहला अहसास हुआ—उसकी आदिम चिंतन-शक्ति से जो समझदारी पैदा हुई, वह यह थी कि हमें कबीलों में एक साथ यानी सामूहिक कोशिश के जरिये ही जिन्दा रहना होगा। We can not live alone—हम अकेले-अकेले जिन्दा नहीं रह सकते हैं। हमें मिलजुलकर लड़ना होगा और मिलजुलकर या सामूहिक रूप से ही जिन्दा रहने की कोशिश करनी होगी। यही मानव सभ्यता की आरंभिक समझदारी थी। यह थी समाज के गठित होने की बुनियादी बात और यह प्राथमिक बात हमें याद रखनी चाहिए। इसी समझदारी के आधार पर मानव-समाज का निर्माण हुआ और हम सामाजिक प्राणी बने हैं। सामाजिक प्राणी (social being) मनुष्य इसी समझदारी के आधार पर बना है कि हम अकेले-अकेले जिन्दा नहीं रह सकते। हमें जिन्दा रहना है, तो सामूहिक रूप से एकताबद्ध होकर ही जिन्दा रहना है। प्रतिकूल शक्तियों के खिलाफ हमें सामूहिक रूप से लड़ना होगा, मिलजुलकर लड़ने के जरिये ही हम परिवेश पर काबू पा सकते हैं, उसे वश में कर सकते हैं, उसका इस्तेमाल कर सकते हैं। आदिम मानव ने वास्तविक जीवन के तजुर्बे से ही यह चिंतन करना सीखा।

मनुष्य का आदिम चिंतन था भौतिकवादी

आज जनजातियों के इतिहास का अध्ययन कर, गुफाओं की

दीवारों के चित्र देखकर, उनके इतिहास का शोध कर आदिम मानव के जीवन के बारे में जितनी भी जानकारी हमें मिली है, उससे पता चलता है कि उस आदिम मानव का चिंतन भौतिकवादी था, भाववादी नहीं। आदिम मानव के चिंतन में भाववाद का नामोनिशान तक नहीं था। अत: भौतिकवादी चिंतन लेकर ही मानव समाज की सफर की शुरुआत हुई थी। लेकिन यह भौतिकवादी चिंतन बाद के समय में एक विशेष परिस्थिति में आकर केवल भौतिकवादी नहीं रहा। भौतिकवादी चिंतन के साथ-साथ भाववादी चिंतन भी मानव समाज में पैदा हुआ और उसके बाद से ही भाववाद और भौतिकवाद–भाववादी चिंतन और भौतिकवादी चिंतन–ये दो विचारधाराएं, दो चिंतन-पद्धतियां मानव समाज में साथ-साथ चली आ रही हैं। हां, इस भाववादी चिंतन के जन्म का भी एक इतिहास है। जहां आदिम मानव का आरंभिक चिंतन भौतिकवादी था, वहीं उसके अंदर भाववाद या भाववादी दर्शन का जन्म किस प्रकार हुआ? इसका कार्य-कारण संबंध क्या था? यह सवाल उठना अत्यंत स्वाभाविक है। इतिहास से पता चलता है कि आदिम मानव अलौकिक (supernatural) शक्ति के बारे में कोई धारणा नहीं रखता था। हालांकि शक्ति के संबंध में भी उसकी धारणा बहुत ही अस्पष्ट थी–फिर भी एक धारणा थी; वह यह कि शक्ति का मायने ही है भौतिक शक्ति, वस्तु की शक्ति। वह उसके लिए दुर्जेय शक्ति थी, अनिष्टकारी या मंगलकारी शक्ति थी, पर थी तो भौतिक शक्ति ही। चाहे वह पत्थर की शक्ति हो, या फिर हवा की शक्ति हो, नहीं तो वृक्ष की शक्ति, बाघ की शक्ति, जल की शक्ति, आग की शक्ति हो। शक्ति के संबंध में उसकी धारणा ऐसी ही थी। इसलिए शक्ति के संबंध में आदिम मानव की सोच भौतिकवादी थी–यानी शक्ति का मतलब ही था वस्तु की शक्ति। मसलन, एक पत्थर गिर पड़ा और कुछ लोगों को दबा डाला। मनुष्य मानता था कि यह एक भौतिक शक्ति (physical force) है। विज्ञान के छात्र जानते हैं कि इस भौतिक शक्ति को विज्ञान में वस्तु की शक्ति (physical force) माना जाता है। आदिम मानव के सामने भूत-प्रेत (ghost) एक अति प्राकृतिक, निर्वस्तु या वस्तु-निरपेक्ष सत्ता नहीं थे, बल्कि भूत-प्रेत थे वास्तविक पत्थर की वह शक्ति–जो मनुष्य को दबा डालती है, चोट

पहुंचाती है। उस जमाने में आदिम मानव ने पत्थर को वश में लाने के लिए, उसे तरह-तरह से सन्तुष्ट करने के लिए पूजा वगैरह करना शुरू किया। पत्थर को या वस्तु को वश में करने के लिए जो उनकी आदिम पद्धति थी—वही हो गया तंत्र-मंत्र या जादू-टोना। तंत्र-मंत्र की पैदाइश भौतिक शक्ति को इस्तेमाल करने और उसे अपने वश (control) में लाने के लिए हुई थी। यही है शुरू का इतिहास। इसलिए तंत्र-मंत्र को आदिम मानव का विज्ञान कहा जाता है। याद रखना होगा कि यह विज्ञान आज के मानव का नहीं, आदिम मानव का है। मैंने विज्ञान क्यों कहा? विज्ञान आज क्या कर रहा है? हम विज्ञान की मदद से ही आज वस्तु की शक्ति, वस्तु का रहस्य, वस्तु जगत के विभिन्न नियम, चलने का ढंग आदि जानते हैं। लेकिन उस जमाने में तंत्र-मंत्र के द्वारा आदिम मानव ने वस्तु को ही जानना और वश में लाना चाहा था। क्योंकि इसके अलावा दूसरे किसी उपाय या तरीके की मनुष्य को जानकारी ही नहीं थी। इसलिए जिस रूप में समझा, मनुष्य ने उसी रूप में सोचा और बहुत सारे फिजूल के काम किये। तभी तो बहुत सारे तंत्र-मंत्र हैं, जिन पर थोड़ा गौर करने पर ही पायेंगे कि उनका न तो कोई मतलब है, न ही उनका कोई सिर-पैर है। इन सबके सहारे ही आदिम मानव ने उस जमाने में प्राकृतिक शक्तियों को वश में करना चाहा था। वस्तु को वश में करने के लिए ही उस जमाने में आदिम मानव ने जो तंत्र-मंत्र का रास्ता अख्तियार किया था यानी जो तंत्र-मंत्र उस जमाने में उसके पास वस्तु को जानने और संतुष्ट करने या वश में करने का एकमात्र उपाय था—यह अलग बात है कि वह कितना कर पाया या नहीं कर पाया—पर यह तंत्र-मंत्र ही इतिहास के पथ पर चलकर बाद के जमाने में अलौकिक या वस्तु-निरपेक्ष अदृश्य शक्ति या देवी-देवता को संतुष्ट करने या पूजा करने के साथ ओत-प्रोत रूप से जुड़ गया। भाववाद, ईश्वरवाद, भगवान तत्व—ये सब समाज में जब आ गये तब से ही वह तंत्र-मंत्र धीरे-धीरे भगवान की पूजा करने के मंत्र में तब्दील हो गया।

आदिम अवस्था में भी नहीं टूटा कबीलाई समाज

तो, वह आदिम समाज कबीलाई समाज था, विभिन्न कबीलों में बंट कर ही समाज चल रहा था। उन कबीलाई मनुष्यों की जीविका

के तरीके क्या थे? उनकी जीविका का तरीका था फल-मूल इकट्ठा करना, शिकार करना। उस समय वे मिलजुलकर ही शिकार किया करते थे। शिकार करने पर जो कुछ मिलता था, उसे आपस में छीना-झपटी करके हो, जबरदस्ती से हो, जो हिस्से में आता, वह खाया करते थे। सम्पत्ति संचित करना, जमाखोरी करना या बढ़ाना उस समय संभव नहीं था। क्योंकि, जमा करने या बढ़ाने लायक किसी सम्पदा या सम्पत्ति की पैदाइश ही तब नहीं हुई थी। मानव समाज का तब एक ऐसा जमाना था, जिसमें स्थाई सम्पत्ति या सम्पदा—जिसे जमा करके रखा जा सके और संचित करके बाद में भोग किया जा सके, बढ़ाया जा सके, फैलाया जा सके, बढ़ाने के लिए दूसरों के श्रम का इस्तेमाल किया जा सके—ऐसे हालात ही उस समय पैदा नहीं हुए थे। उस वक्त आदमी की जीवन शैली बहुत सरल थी। मैंने पहले ही कहा है कि इसी वास्तविक जरूरत और इतनी-सी समझदारी के आधार पर ही मनुष्य शुरू से ही कबीलों में एकताबद्ध था कि प्रतिकूल प्राकृतिक परिवेश में अकेले-अकेले जिन्दा नहीं रहा जा सकेगा। इसलिए वे कबीले के रूप में ही रहते, शिकार करते और इसी प्रकार जीवन बिताते थे। बात ऐसी नहीं थी कि वे जो कुछ शिकार करते थे, उसे सद्‌बुद्धि से संचालित होकर या न्याय-नीति से प्रेरित होकर आपस में सब मिल-बांटकर खाते थे। इस तरह की न्याय-नीति या समझदारी उस जमाने में पैदा ही नहीं हुई थी। यह कहा जा सकता है कि उस जमाने में मनुष्य करीब-करीब जानवर जैसा ही था। इसलिए काफी हद तक उसका रूप पाशविक ही था, विशेषताएं भी लगभग जन्तु-जानवरों जैसी ही थीं। इस पशुवत् चरित्र के कारण ही वह एक-दूसरे का झपटकर, जोर-जबरदस्ती छीनकर खा लेता था। उस जमाने में यही सब चलता था। जो शिकार करके लाया गया—उसे जो शारीरिक तौर पर ज्यादा बलवान पड़ा, उसने एक झपट्टा मारा और छीनकर खा गया। जो हांफता हुआ बूढ़ा, असमर्थ या विकलांग होता था—वह थोड़ा मौका मिलते ही आंखें बचाकर तनिक खाने की चेष्टा करता—फिर कभी खा पाता था, कभी नहीं भी। लेकिन ऐसे हालात में भी कबीले या कबीलाई चरित्र में उस जमाने में टूटन पैदा नहीं हुई।

असमानता लोभ से नहीं आयी, बल्कि असमानता के आधार पर गठित समाज से लोभ का जन्म हुआ

ये सारी बातें मैं यही दिखाने के लिए कह रहा हूं कि जो लोग कहा करते हैं कि मनुष्य में लोभ रहने के चलते ही समाज वर्ग-विभाजित हुआ है, छोटे-बड़े पैदा हुए हैं, अमीर-गरीब बने हैं या गैर-बराबरी पैदा हुई है—जो लोग यह कहते हैं कि लोभ तो एक शाश्वत प्रवृत्ति है, लोभ हमेशा था और हमेशा रहेगा—उनकी यह धारणा कितनी गलत है। इनमें से बहुतेरे लोगों का यही मानना है कि खुद बड़ा बनने के लिए अगर दूसरे को दबाना पड़े, तो लोग दबायेंगे ही और इसी वजह से लोगों का एक तबका सदा बड़ा या अमीर बना रहेगा, समाज में असमानता रहेगी और अमीर-गरीब पैदा होते रहेंगे। लेकिन वे इतिहास से सीख लेकर यह बात नहीं कह रहे हैं, वे अपनी मनगढ़ंत सोच से ऐसा कह रहे हैं। वरना वे देख पाते कि उन नीच प्रवृत्तियों के कारण मानव समाज में असमानता पैदा नहीं हुई, बल्कि असमानता के आधार पर गठित समाज ने ही नीच प्रवृत्तियों को जन्म दिया है और उन्हें जिन्दा रखने में मदद की है। इस बात से मैं जो पहलू दिखाना चाह रहा हूं और जिसे हमें अच्छी तरह ख़याल रखना होगा, वह यह है कि प्रायः जानवरों जैसी प्रवृत्ति लिये हुए भी उस वक्त आदिम मानव कबीलों में एकताबद्ध ही रहा, वे कबीले टूटे नहीं—मालिक-मजदूर भी पैदा नहीं हुए, वर्ग-विभाजन भी नहीं दिखाई दिया। जिस तरह हम गली के दो कुत्तों को रोटी के एक टुकड़े के लिए लड़ते-झगड़ते देखते हैं—आदिम युग के मानव की प्रकृति भी काफी हद तक वैसी ही थी। शारीरिक ताकत के बलबूते, जबरदस्ती, पशुओं की तरह एक आदमी दूसरे आदमी से खाने की चीजें छीन-झपट कर खाया करता था—फिर भी कबीले नहीं टूटे। वर्गों का उदय नहीं हुआ। आज मालिक, मजदूर, लिपिक, व्यवसायी, जोतदार, मध्यम किसान, भूमिहीन किसान—हम यह सब जो देख रहे हैं, इनका जन्म नहीं हुआ था। तो फिर वर्गों की सृष्टि कैसे हुई?

खेती-बारी का आगमन और उसके नतीजे

वर्ग तो तब पैदा हुए, जब समाज में सम्पत्ति आयी, स्थाई सम्पत्ति

दिखाई दी। उत्पादन व्यवस्था जब ऐसे स्तर में पहुंची कि उत्पादन व्यवस्था में स्थाई मालिकाने की संभावना दिखाई दी, उन स्थाई मालिकों के पक्ष में उत्पादन को पूरी तरह से उपभोग करने का स्थाई मौका दिखाई दिया, उसमें बढ़ोतरी करने और उत्पादन में दूसरे के श्रम का इस्तेमाल कर ऐशो-आराम से रहने का मौका दिखाई दिया—तभी वर्गों का उदय हुआ। जब तक उत्पादन व्यवस्था इस जगह पर नहीं पहुंची, तब तक समाज भी वर्ग विभाजित नहीं हुआ। मानव समाज में इस अवस्था की पैदाइश कब हुई? मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि पशुपालन और खासकर खेती-बारी के आगमन को केन्द्र करके मानव समाज में स्थाई सम्पत्ति की पैदाइश हुई। कबीलाई मानव शिकार और इकट्ठा किये गये फल, कन्द-मूल से अपनी भूख मिटाता रहा। इस प्रकार चलते-चलते उसने एकाएक गौर किया कि कभी आम खाकर उसकी गुठली जहां फेंक दी थी, वहां एक आम का पेड़ उग आया और उसमें उसी तरह के फल लग गये। इससे मनुष्य के दिमाग में एक विचार पैदा हुआ। उसने सोचा, तब तो इस गुठली यानी बीज से ही पेड़ होता है। फिर तो बीज बोने से पेड़ उगेंगे, फल लगेंगे, फसल होगी। मनुष्य को ऐसा सोचने में सदियां लग गयीं। इसी समझदारी के आधार पर मानव समाज में एक दिन जमीन जोतकर, उसे खेती लायक बनाने की कोशिश शुरू हुई।

तो हमने देखा कि आदिम अवस्था में मनुष्य एकताबद्ध होकर कबीलों के रूप में आज यहां, कल वहां घूमता रहता था। सम्पूर्ण मानव समाज उस जमाने में विभिन्न कबीलों में बंटा हुआ था। आज जिसे हम राष्ट्र कहते हैं, देश कहते हैं, परम्परा कहते हैं—एक दिन यह सब कुछ भी नहीं था। मैंने खेती-बारी के आगमन की जो बात कही, वैसे ही स्तर में यानी कबीलाई समाज में ही अचानक खेती-बारी या *'एग्रीकल्चर'* का आविष्कार हुआ। खेती के तरीकों की जानकारी हुई। तब इन कबीलाई मनुष्यों ने आपस में मिल-जुलकर, जंगल काटकर, बाघ-भालुओं से लड़कर बंजर यानी परती जमीनों को खेती के लायक बनाया।

स्थाई सम्पत्ति और व्यक्तिगत मालिकाने का आविर्भाव

इसलिए इस बात को समझने में किसी को दिक्कत नहीं होगी कि

इस धरती पर जमीन का मालिक बनकर कोई नहीं आया है। मालिकों का यह कहना कि बाप-दादों के जमाने से, युग-युग से सम्पत्ति पर उनका अधिकार पवित्र अधिकार है—यह कितना बड़ा झूठ है, इसे समझना जरूरी है। हम सभी को यह जानना चाहिए कि उनके बाप-दादों के जमीन के मालिक बनने के पीछे भी एक इतिहास है। वह इतिहास है धोखाधड़ी का, दगाबाजी का, ठगी का, जुल्म का, डाकेजनी का इतिहास। उस इतिहास को हमें खुद भी जानना है और दूसरे किसानों को भी बताना है। बाघ-भालुओं से, जन्तु-जानवरों से, प्रकृति से लड़कर कबीले के तमाम लोगों ने सामूहिक तौर पर जिस जमीन को खेती के लायक बनाया, प्राकृतिक सम्पदा को इस्तेमाल करने लायक बनाया, लेकिन तमाम लोगों की मेहनत से तैयार उस जमीन को कुछ मुट्ठीभर लोगों ने शारीरिक ताकत के बल पर हड़प लिया और उसके मालिक बन बैठे। तो देखा गया कि समाज में जब खेती-बारी का साधन दिखाई दिया, उत्पादन के एक स्थाई उपाय के तौर पर स्थाई उत्पादन के साधन (means of production) के रूप में जमीन आ गयी—तब मनुष्य की जीवन शैली में एक बहुत बड़ा बदलाव आ गया। इससे पहले ऐसी स्थिति थी कि शिकार मिला तो खाया, फल, कन्द-मूल जुटा पाया तो खा लिया, नहीं तो यूं ही रह गये। सब कुछ अनिश्चित (uncertain) था और उसके लिए वे यहां से वहां घूमते रहते थे, घूमन्तु जीवन जीते थे। धीरे-धीरे वहां पर एक विच्छेद (break) आ गया। चूंकि जमीन उत्पादन का एक ऐसा साधन है, जिससे साल-दर-साल फसल मिलती जाती है, जिसका उपभोग किया जा सकता है। इसलिए जीवन-यापन के लिए घूमते रहने की फिर आवश्यकता नहीं रही। इसके अलावा और क्या परिवर्तन आया? मनुष्यों में यह धारणा आयी कि मालिक बनना भी संभव है। इसलिए इन कबीलों में जो ताकतवर लोग थे, उन्होंने सोचा कि अगर वे इन जमीनों के मालिक बन जायें, तो दूसरों के श्रम का इस्तेमाल कर उसके फल का उपभोग किया जा सकता है। जमीन से जो फसल प्राप्त होगी, वे उसके भी मालिक हो जायेंगे और वे ही उस सम्पदा का उपभोग कर सकेंगे—जमीन पर पूरा हक उन्हीं का होगा। नतीजतन, वे ऐशो-आराम का जीवन जी सकेंगे।

यहां एक बात समझने की जरूरत है। वह यह कि दूसरों को वंचित कर यह ऐशो-आराम की मानसिकता उनमें क्यों आयी? यह इस वजह से आयी कि उनकी जो जरूरत थी, वे जिस ऐशो-आराम में रहना चाहता थे, यदि जमीन से प्राप्त फसल को वे सबके साथ मिल बांटकर लेते, तो उनके ऐशो-आराम की जरूरत पूरी नहीं होती। उस जमाने के लोग यदि न्यायपरायण होते, गांधीवादी होते या बुद्ध के शिष्य होते, तो निश्चित तौर पर ऐसा नहीं होता। लेकिन उस वक्त समाज में न्याय-नीति का जन्म ही नहीं हुआ था, गांधी-बुद्ध का जन्म नहीं हुआ था। मनुष्य की अवस्था लगभग अर्द्ध जानवरों जैसी थी, प्रवृत्तियां भी लगभग वैसी ही थीं। इसलिए वैसा वे सोच नहीं सकते थे। मनुष्य के सामने तब सबसे बड़ा प्रश्न था—उसकी अपनी जरूरतें। किसी भी विचारधारा के मुकाबले उसकी इस वास्तविक जरूरत, इस वस्तुनिष्ठ स्थिति का प्रभाव ही उस पर सर्वाधिक था। वह वस्तुनिष्ठ स्थिति क्या थी? स्थिति यह थी कि जमीन से जितना उत्पादन हो पाता था, उत्पादन व्यवस्था या मनुष्य के उत्पादन की क्षमता जिस स्तर पर थी, उसमें सभी के मिल-जुलकर बांट लेने पर ऐशो-आराम की गुंजाइश तो थी ही नहीं, यहां तक कि लोगों की जरूरतों को हमेशा पूरा करना भी संभव नहीं होता। सभी के बीच बराबर-बराबर बांट देने पर बहुत होता तो दो वक्त भरपेट भोजन ही मिल पाता। वह भी सभी कबीलों को नहीं—दो-एक कबीलों को ही मिल पाता। शेष को यह भी नहीं मिल पाता। जो कबीले खेती के इन साधनों की खोज नहीं कर सके थे या उतनी जमीन नहीं प्राप्त कर सके थे, उन्हें नयी जगहों पर जाकर इन्हें प्राप्त करने की कोशिश करनी पड़ती थी।

जरूरत के मुकाबले उत्पादन की कमी और समाज में उसकी प्रतिक्रिया

खैर जो हो, यहां एक बात हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। वह यह कि मनुष्य की आवश्यकताएं क्रमशः बढ़ती जाती हैं। वे एक जगह स्थिर नहीं रह सकतीं। यही स्वाभाविक है। इसलिए एक तरफ जहां मनुष्य की आबादी बढ़ रही है, वहीं उसकी जरूरतें या बेहतर जीवन जीने की चाहत भी बढ़ती जा रही है। इस सत्य को नकारने की

कोई गुंजाइश नहीं है। हालांकि उन दिनों मनुष्य जितना उत्पादन कर पाता था, वह उसकी लगातार बढ़ती जरूरतों के मुकाबले नाकाफी था। लिहाजा जितना भी उत्पादन होता था, उत्पादन व्यवस्था के पिछड़ेपन की वजह से उसके बंटवारे को लेकर झगड़े होते रहते थे। चूंकि उस वक्त का उत्पादन मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर सकता था, इसलिए उत्पादित सम्पदा का कौन अधिक उपभोग करेगा–इसे लेकर झगड़े-फसाद हुआ करते थे। लेकिन अगर शुरू से ही ऐसा होता कि मनुष्य की लगातार बढ़ती आवश्यकताओं से ताल-मेल रखते हुए उत्पादन भी बहुतायत में होता–तर्क के लिए अगर एक ऐसी परिस्थिति को मान भी लें, तो इस मानसिकता यानी दूसरों को ठगकर कैसे अकेले उसका उपभोग किया जा सकता है, यह मानसिकता पैदा नहीं होती। मान लीजिए, जब हम मैदान में जाकर बैठते हैं, तब हमारे बीच मैदान की हवा के लिए दूसरों को ठगने या दूसरों के साथ किसी तरह की प्रतियोगिता करने की मानसिकता नहीं दिखाई देती। लेकिन बिजली-पंखे को लेकर, एयर कंडीशंड कमरे को लेकर, मोटर गाड़ी में बैठने को लेकर हमारे बीच प्रतियोगिता है। इन चीजों को पाने की ख्वाहिश रहने के बावजूद सभी इनका उपभोग नहीं कर सकते। मोटर गाड़ी या बस में चढ़ने को लेकर लोगों में एक-दूसरे के बीच यह जो लड़ाई है, वह इसलिए कि बसों या मोटर गाड़ियों की संख्या कम है। सभी को एक साथ इनका उपभोग करने की गुंजाइश नहीं है। इसके अलावा मोटर गाड़ी पर कौन चढ़ पायेगा, कौन नहीं चढ़ पायेगा, यह तो हर किसी की क्रय-शक्ति पर निर्भर करता है। इसलिए एक-दूसरे के बीच यह जो लड़ाई है, वह क्रय-शक्ति बढ़ाने की लड़ाई है, उसी की प्रतियोगिता है। इसलिए व्यवसाय के जरिये हो, नौकरी के जरिये हो या फिर चोरी-डकैती करके हो–किसी भी तरह से लोग ये ऐशो-आराम प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिए लोगों के बीच यह प्रतियोगिता है, यह होड़ है। कौन बड़ा होगा, इसे लेकर लड़ाई है, लोगों के बीच एक-दूसरे को पीछे धकेलकर आगे बढ़ने की यह कोशिश है। लेकिन आखिर क्यों? क्योंकि लोगों की जरूरत के मुकाबले ऐशो-आराम के साधन नाकाफी हैं। लेकिन मैदान की हवा को लेकर लोगों के बीच लड़ाई-झगड़े नहीं होते हैं। इसे जो जितना चाहे,

उपभोग करे किसी को ठगने की जरूरत नहीं है। विशाल मैदान में बैठकर जितना चाहो, हवा खाओ—क्या उसके लिए किसी को ठगने या दबाने की जरूरत है? अब अगर तमाम चीजों का पर्याप्त मात्रा में उत्पादन संभव हो और उन्हें तमाम लोगों तक पहुंचाया जा सके, तो जीवन की तमाम जरूरतें, जो-जो आदमी की जरूरतें हैं, वे हर आदमी की पूरी की जा सकती हैं। यानी पर्याप्त मात्रा में उत्पादन के साथ-साथ वितरण व्यवस्था भी ऐसी हो कि सभी लोग तमाम आवश्यक सामग्रियों का अपनी आवश्यकता के अनुसार उपभोग कर सकें, तो फिर यह समस्या नहीं रहेगी। ऐसा होने से लोगों में प्रतिस्पर्द्धा की कोई मानसिकता ही फिर दिखाई नहीं दे सकती। लेकिन यह आसान बात नहीं है। आदिम समाज में तो यह सवाल ही पैदा नहीं होता—आज भी यह आसान बात नहीं है।

खैर जो हो, जिस युग की बात करते-करते हम यहां आ गये, उस आदिम युग में मनुष्य की मूल समस्या कहां आ पहुंची थी? जो मूल समस्या दिखाई दी थी, वह थी जरूरत की तुलना में उत्पादन की निहायत कमी। इसलिए वितरण को लेकर लोगों के बीच झगड़े होने लगे। लिहाजा तमाम लोगों की मेहनत से जिन बंजर या परती जमीनों को कृषि योग्य बनाया गया—जो ताकतवर थे, इस झगड़े में लाठी के बल पर जबरन वे ही उस जमीन के मालिक बन बैठे। कबीलों के सरदारों, योद्धाओं, ताकत वालों ने शारीरिक बल और लाठी की ताकत से कबीले के दूसरे बराबर के हिस्सेदारों को गुलामों में तब्दील कर लिया—दास बना लिया और खुद मालिक बन बैठे। उन मुफ्त के गुलामों से बेगार की तरह मेहनत करवाकर खुद ऐशो-आराम की जिन्दगी जीने लगे। इस तरह इन्हीं प्रक्रियाओं में कालांतर में गुलामों के मालिकों या अमीरों की पैदाइश हुई, उनकी निजी सम्पत्ति का भी जन्म हुआ। यानी एक ओर भारी तादाद में गुलाम, तो दूसरी ओर गुलामों के मट्ठीभर मालिक—इस प्रकार पूरा समाज दो हिस्सों में बंट गया, दो वर्गों का जन्म हुआ।

निजी सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति का इतिहास

तो इस निजी सम्पत्ति की शुरुआत कैसे हुई? निजी सम्पत्ति की

पैदाइश की शुरुआत अन्याय और जोर-जुल्म से हुई। समाज की सम्पत्ति को अन्याय और जबर्दस्ती के आधार पर निजी सम्पत्ति में तब्दील किया गया। तमाम लोगों के प्रयास से जो प्राकृतिक सम्पदा प्राप्त हुई, जिसे उनके द्वारा इस्तेमाल किया गया, जिस जमीन को कृषि योग्य बनाने में कबीले के हर आदमी ने मिलजुलकर काम किया, कबीले के मुखिया लाठी के बल पर उस जमीन के मालिक बन बैठे। तभी से लाठी के ही बल पर कानून आदि बनाकर निजी सम्पत्ति के अधिकार को 'पवित्र' अधिकार के रूप में घोषणा की गयी और उसे 'पवित्र' बनाकर रख दिया। इसलिए लाठी के बल पर केवल निजी सम्पत्ति ही पैदा नहीं हुई–उसकी रक्षा के लिए जो शासन व्यवस्था लागू हुई, लोग उसे मान नहीं सके। इसलिए उन्हें मनवाने के लिए ही मालिकों की शासन-व्यवस्था, फौजी-व्यवस्था, कायदे-कानून आदि सब कुछ का निर्माण करना पड़ा ताकि निजी सम्पत्ति पर उनके इस मालिकाने के 'पवित्र' अधिकार को लोगों से मनवा लिया जाये। इसलिए राजसत्ता, शासन-तंत्र, शासन-नीति, कायदे-कानून आदि जो हम देख रहे हैं, इनकी पैदाइश कालांतर में इसी प्रकार हुई। मालिक वर्ग के हितों की हिफाजत के मकसद से, मालिक वर्ग के स्वार्थ को पूरा करने के लिए ही मालिक वर्ग द्वारा इन सब को बनाया गया।

तो इस चर्चा में हमें कई चीजें मिल गयीं, जिन्हें याद रखना आवश्यक है। पहली तो यह कि राजसत्ता (state) क्या है? राजसत्ता एक वर्ग के हाथों दूसरे वर्ग का दमन करने का औजार है। इसलिए राजसत्ता के आविर्भाव का इतिहास वर्गों के अर्विभाव के इतिहास के साथ जुड़ा हुआ है। पहले की चर्चा में हमने देखा कि कबीलाई समाज में राजसत्ता नहीं थी। राजसत्ता का जन्म तो तभी हुआ, जब समाज वर्ग विभाजित हुआ, मालिक वर्ग का जन्म हुआ, मालिक वर्ग के मालिकाने की हिफाजत के लिए शासन-तंत्र की जरूरत महसूस हुई, कायदे-कानून बने, पुलिस-व्यवस्था, फौजी-व्यवस्था कायम करने की जरूरत महसूस हुई। ऐसी ही परिस्थिति में दुनिया में पहली बार राजसत्ता का जन्म हुआ।

देखिए, कैसी विचित्र बात है! इस मालिकाना आधारित व्यवस्था के आने के बाद ही ईश्वरवाद तथा भाववाद का जन्म हुआ। तभी तो

मालिकों के साथ ईश्वर की जबरदस्त दोस्ती है। कहीं भी मालिक ईश्वर-विरोधी नहीं होते हैं, बल्कि घोर ईश्वर भक्त होते हैं। क्योंकि, इस मालिकाना आधारित व्यवस्था के साथ अध्यात्मवाद, भाववाद और भगवानवाद के आविर्भाव का इतिहास ओत-प्रोत रूप से जुड़ा हुआ है।

वस्तु से ही भाव यानी विचार का जन्म

आप लोग पहले ही सुन चुके हैं कि मनुष्य का आरंभिक चिंतन भौतिकवादी था और उसका भौतिकवादी होना ही लाजिमी था। मैं इस विषय को थोड़ी और व्याख्या करके बताता हूं। दरअसल चिंतन क्या है? मनुष्य चिंतन कैसे करता है? चिंतन करने की प्रक्रिया क्या है? हम जानते हैं कि मनुष्य की जो पांच ज्ञान इन्द्रियां हैं–आंख, नाक, कान, जीभ और त्वचा। इन्हीं पंचेन्द्रियों के जरिये मनुष्य हर क्षण बाहरी दुनिया को स्पर्श करता है, उसके संपर्क में आता है, चाहे वह जैसे भी क्यों न हो। यह बाहरी दुनिया या विश्व प्रकृति, मनुष्य रहे या न रहे, अस्तित्व में है। बात ऐसी नहीं है कि हम हैं, इसलिए भौतिक जगत है। ऐसा नहीं होगा कि यहां से हमारे चले जाने के बाद यह माइक, यह गिलास नहीं रहेगा। मेरे मर जाने के बाद भी भाटपाड़ा (उत्तर चौबीस परगना का वह स्थान, जहां यह शिक्षण शिविर चल रहा था) रहेगा, अपनी विशिष्टताओं को लिये हुए ही रहेगा। इसलिए हमारे मानने पर, सोचने पर या हमारे अस्तित्व पर इस भौतिक जगत का अस्तित्व निर्भर नहीं करता अथवा यह सब माया भी नहीं है। इस बात को याद रखना जरूरी है। It is an objective reality which exists independent of us, independent of human consciousness. अर्थात इस भौतिक जगत का अस्तित्व मनुष्य के अस्तित्व या उसकी चेतना से निरपेक्ष रूप में ही कायम है। हम अपने मन में सोच रहे हैं, चिंतन कर रहे हैं, इसलिए बाहरी दुनिया है या हम जैसा सोचते हैं, दुनिया भी वैसी ही है–यह सब सत्य नहीं है। हम कुछ भी क्यों न सोचें, दुनिया जैसी है, वैसी ही है। हम फिजूल की काफी कुछ बातें सोच सकते हैं, पर उससे कुछ आता-जाता नहीं है। हम चावल को दाल समझ सकते हैं, लेकिन उससे चावल दाल नहीं बन जाता। हम बिजली के पंखे को कुछ और समझ सकते हैं, लेकिन वह जो है वही है। यह जो विद्युत

ऊर्जा है, जिसे हम electric energy कहते हैं–उसके जो गुणधर्म हैं, उन्हीं सब गुणधर्मों को लेकर वह अस्तित्वमान है। हम क्या मानते हैं, इस पर उसका अस्तित्व निर्भर नहीं करता। उसके गुणधर्म भी हमारे मानने-न मानने पर निर्भर नहीं करते। इसलिए इस भौतिक जगत का अस्तित्व मनुष्य के मन और चेतना से परे है। भौतिक जगत का अस्तित्व मानव चेतना से स्वतंत्र है–मनुष्य की बुद्धि और चेतना से परे है। यदि कोई कहता है कि भौतिक जगत का अस्तित्व और रूप मनुष्य की चेतना पर निर्भरशील है, तो कहना होगा कि या तो वह जान-बूझकर लोगों को ठग रहा है, या फिर वह बिल्कुल अनजान है–कुछ भी नहीं जानता है।

अभी जिस बात को कहते-कहते मैं यहां चला आया, वह यह है कि मनुष्य चिंतन कैसे करता है? मनुष्य के मस्तिष्क के गठन में जो वस्तु है, उसकी जो क्षमता (power) है–उसी क्षमता के फलस्वरूप मनुष्य चिंतन कर सकता है। यह बाहरी दुनिया हर पल पंचेन्द्रियों के जरिये मानव मस्तिष्क पर धक्के देती रहती है, घात-प्रतिघात होता रहता है, अंतर्क्रिया (interaction) होती रहती है। मानव मस्तिष्क की जिस विशेष क्षमता की बात मैंने कही, उसे अंग्रेजी में power of translation of the human brain कहा जाता है। यानी मनुष्य के मस्तिष्क की चिंतन करने, विश्लेषण करने, समझने, सोचने-विचारने की क्षमता। इसलिए पंचेन्द्रियों के जरिये मानव-मस्तिष्क में जो घात-प्रतिघात होता रहता है और उसके फलस्वरूप मानव मस्तिष्क की यह जो विशेष क्षमता है, अर्थात ट्रांसलेशन की क्षमता है, इसके चलते मनुष्य चिंतन करता है, यानी भौतिक जगत से वाकिफ होता है। अर्थात हम सोच-विचार कर रहे हैं, समझ रहे हैं, चिंतन कर रहे हैं। इसलिए वस्तु ही चिंतन का स्रोत है। इसलिए घटना और परिवेश हमारे मस्तिष्क पर जिस प्रकार धक्का देते हैं, हम उसी प्रकार चिंतन करते हैं, देखते हैं और विश्लेषण करते हैं। मैं जिसे देखता हूं, सिर्फ वही वस्तु नहीं है। मेरे मस्तिष्क में जो परिवेशगत स्थिति धक्का दे रही है, उसका निर्माण भी वस्तु से ही हुआ है, यहां तक कि जिस मस्तिष्क के जरिये मैं चिंतन कर रहा हूं, वह मस्तिष्क भी वस्तु से ही निर्मित है। विभिन्न जैविक पदार्थों (organic compounds) से मानव मस्तिष्क गठित हुआ

है। इसलिए वस्तु ही चिंतन कर रही है, फिर चिंतन के उपादान भी वस्तु ही जुटा रही है और एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ परस्पर द्वन्द्व-संघर्ष करते हुए चेतना को पैदा कर रही है, भाव यानी विचार को जन्म दे रही है। अतः आदिम मानव के लिए भौतिकवादी होने के सिवा दूसरा कोई चारा ही नहीं था।

समाज में 'ईश्वर चिंतन' की पैदाइश का कारण

तो, जब समाज वर्ग-विभाजित हुआ, जब मालिक वर्ग पैदा हुआ—जब मालिकाना आधारित व्यवस्था ने स्थाई रूप ले लिया, जब समाज में कुछ कायदे-कानून, नियम-अनुशासन लागू हुए, यानी लोगों का एक तबका जब शासन करने लगा—तब भी विज्ञान उन्नत स्तर पर नहीं पहुंच पाया था, तब भी विज्ञान का रूप आदिम ही था। यानी करीब-करीब तंत्र-मंत्र के स्तर में था। आग कैसे जलती है, बारिश कैसे होती है, तूफान कैसे आता है, भूकम्प कैसे होता है, मनुष्य कहां से आया, मनुष्य कैसे जन्म लेता है, मौत क्यों होती है, यह क्यों होता है, वह क्यों होता है—ऐसी कितनी समस्याओं को मनुष्य आंख फाड़-फाड़कर देखने लगा। रोज सुबह सूर्य उगता है और शाम को डूब जाता है। वह फिर उगता है और अस्त हो जाता है। जाड़ा-गर्मी भी घूम-फिर कर आते रहते हैं। ज्वार आता है, भाटा आता है—लेकिन यह सब होता कैसे है? यह प्रश्न बार-बार मनुष्य के चिंतन में धक्का देने लगा। लेकिन जवाब कौन देता? क्योंकि उन दिनों मनुष्य के पास इन सब प्रश्नों का उत्तर देने लायक कोई विज्ञान नहीं था। 'कैसे होता है', 'कैसे हुआ'—इसका जवाब ढूंढ़ने के क्रम में मनुष्य के दिमाग में एक समय एक सोच आयी और वह सोच तभी आयी जब उस सोच के दिमाग में आने लायक परिस्थिति पैदा हुई—उससे पहले नहीं। वह कौन-सी सोच थी? मनुष्य ने एक समय आकर सोचना शुरू किया कि मानव समाज आखिर अनुशासन के आधार पर कैसे चल रहा है? शायद इसका कारण यह है कि इसका एक मुखिया है, राजसत्ता का अधिपति है, कानून का निर्माता है। इसलिए जिस प्रकार किसी न किसी को समाज का संचालन करना पड़ता है—तभी समाज अनुशासित रूप से चलता है। जैसे मालिकों का एक तबका है, शेष लोग उन्हें

मालिक के रूप में मानते हुए उनके कायदे-कानून को मानकर चल रहे हैं। मालिक जिस तरह चलाते हैं, शेष लोग उसी तरह चलते हैं। ठीक इसी तरह इस दुनिया का भी निश्चित रूप से कोई न कोई मालिक है, जो दुनिया को तमाम मामलों में अनुशासनबद्ध तरीके से चला रहा है। इसलिए यह जो सादृश्यता है, यानी कुछ अनुभवों की तुलना कुछ दूसरी घटनाओं से करना (to draw an analogy)–सहज बुद्धि से मनुष्य के दिमाग में इस सादृश्यता के तर्क (logic of resemblance) ने जिस प्रकार धक्का दिया, उसी से उसके मन में ईश्वर चिंतन का जन्म हुआ। अत: ईश्वर की धारणा पैदा होने के पीछे यही वस्तुनिष्ठ परिस्थिति थी। वह वस्तुनिष्ठ परिस्थिति यह थी कि मनुष्य ने देखा कि मालिक, राजा या गुलामों का मालिक, गुलामों को अनुशासित ढंग से संचालित करते हैं, तभी तो गुलामों में अनुशासन रहता है, समाज में अनुशासन रहता है। लिहाजा दुनिया का भी इस तरह कोई न कोई मालिक है, जो दुनिया के तमाम कार्यों को अनुशासित रूप से और नियमानुसार चला रहा है। अत: इस चर्चा में हमने देखा कि समाज में मालिक वर्ग के पैदा होने के बाद, समाज में उसके कायदे-कानून लागू हो जाने के बाद और असल विज्ञान की अनुपस्थिति या विज्ञान की शैशवावस्था के कारण ही इस ईश्वरवाद का जन्म होना संभव हुआ। दुनिया का कोई न कोई मालिक है–समाज में ऐसा चिंतन आ जाने के बाद समाज में मालिकों ने उस चिंतन का इस्तेमाल अपने स्वार्थ में किया। खैर जो भी हो, ऐसे ही एक समय में समाज में भौतिकवाद और ईश्वरवाद या भाववाद साथ-साथ चलने लगे।

आदिम मानव ने वस्तु को ही जानना, समझना और उस पर विजय हासिल करना चाहा

इसलिए जो लोग कहते हैं–मनुष्य ईश्वर का अंश है, हमारी आत्मा परमात्मा का अंश है, इसलिए परमात्मा की खोज करना आत्मा का धर्म है और यही वजह है कि मनुष्य जन्म के साथ-साथ ईश्वर चिंतन में लग जाता है–वे लोग मानव प्रगति के इतिहास की कोई जानकारी ही नहीं रखते। वे यूं ही ऊटपटांग कहानियां गढ़ते रहते हैं। वे जानते ही नहीं कि समाज में मानव के आविर्भाव के बाद से लेकर उसके

मानसिक गठन और विकास के एक लम्बे अरसे तक मनुष्य ने ईश्वर चिंतन किया ही नहीं–किया वस्तु चिंतन। उसने वस्तु को ही जानना चाहा। जिसे वह जानना चाहता था, वश में करना चाहता था, वश में करने की साधना की–वह है वस्तु। मालिकाने की व्यवस्था आने के बाद ही पहले पहल ईश्वर चिंतन आया। मैंने पहले ही कहा है कि मालिकाने की व्यवस्था में पहुंचने के बाद ही उसमें ऐसी धारणा पैदा हुई कि मालिक जिस तरह समाज में अनुशासन बनाये रखता है, उसी तरह दुनिया का भी कोई न कोई मालिक है–जिसकी वजह से सब कुछ नियम से चल रहा है। इसलिए तत्कालीन सामाजिक परिवेश, विज्ञान और मनुष्य के चिंतन की शैशवावस्था–यही हैं ईश्वर चिंतन तथा भाववादी दर्शन की पैदाइश का मूल कारण। ईश्वर चिंतन कौन करता है? मानव मस्तिष्क करता है। मानव मस्तिष्क के चिंतन के माध्यम से ही ईश्वर की धारणा आयी है। लिहाजा वस्तु या भौतिक जगत की सृष्टि ईश्वर ने नहीं की, अथवा सत्य ज्ञान, सत्य दृष्टि और सही मायने में विकसित चिंतन के नतीजे के तौर पर ईश्वर की धारणा या भाववादी धारणा नहीं आयी।

मानव मस्तिष्क जो वस्तु द्वारा निर्मित है, उस मानव मस्तिष्क ने वस्तु का रहस्य पता लगाने के क्रम में ईश्वर को पैदा किया। विज्ञान की आदिम अवस्था में जब सारे सवालों का जवाब दे पाना विज्ञान के लिए संभव नहीं था, बावजूद इसके समाज में कुछ ऐसी चीजें थीं, जिन्हें सहज बुद्धि से लोगों ने देखा और उनके साथ तुलना कर पाये और उनको लगा कि शायद दुनिया का भी इसी तरह का कोई न कोई मालिक है। मनुष्य के इसी चिंतन ने तब ईश्वर धारणा पैदा की। इसी वजह से बाद के समय में हम देखते हैं कि राजा को भी ईश्वर के अंश के रूप में माना जाने लगा। तभी तो तत्कालीन शास्त्रों और तमाम धर्मों में राजा के विरुद्ध लड़ने को देवता या ईश्वर के विरुद्ध लड़ना माना जाता था। हालांकि इतिहास में किसी-किसी मामले में इसका अपवाद भी देखा गया है। गुलामों के मालिकों के अन्याय एवं जुल्म के खिलाफ लड़ने के लिए कभी-कभी धर्म को इस लड़ाई के पक्ष में इस्तेमाल किया गया है। इस तर्क का सहारा लिया गया कि चूंकि ईश्वर के राज्य में सभी बराबर हैं, इसलिए गुलामों के मालिक गुलामों

पर अन्याय-अत्याचार कर दरअसल धर्म के खिलाफ ही काम कर रहे हैं। गुलामों के मालिकों के विरुद्ध गुलामों की लड़ाई में धर्म को इस प्रकार इस्तेमाल करने की मिसाल ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों में पायी जाती है। लेकिन इस खास घटना को छोड़कर सभी मामलों में यही देखा गया है कि समाज के मालिक तबके ने धर्म को अपने शासन-शोषण के हित में ही इस्तेमाल किया है। नतीजतन, उन दिनों समाज में यही धारणा हावी रही कि राजा के खिलाफ लड़ने की मनाही है, क्योंकि राजा तो ईश्वर का प्रतिनिधि है। बाद के जमाने में विज्ञान की तरक्की तथा जनतंत्र की विचारधारा ने इस धारणा को तोड़ दिया। लेकिन यह सब हुआ काफी युगों के बाद, फ्रांसीसी क्रांति के दौरान।

जब विश्वव्यापी सामंतवाद के गर्भ से पूंजीवाद का जन्म हुआ, तो पूंजीवादी विकास की जरूरत से भू-दास प्रथा को खत्म करने की जरूरत दिखाई दी, सामंतवाद को ढहाने की आवश्यकता आ पड़ी। विशेषकर लोगों को व्यक्ति स्वतंत्रता के आधार पर खड़ा करने की जरूरत इसलिए आ पड़ी कि बगैर इसके विकसित उत्पादन व्यवस्था लागू नहीं हो पाती। तब नये सिरे से ज्ञान-विज्ञान की साधना शुरू हुई और सही मायने में विज्ञान का जन्म हुआ। पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ विज्ञान की तरक्की भी तेज रफ्तार से चल पड़ी। इतने दिनों तक सामंती व्यवस्था ने विज्ञान की तरक्की को रोक रखा था, सत्य की खोज के मार्ग में रुकावट बना हुआ था और सत्य को दबाने-छिपाने की कोशिश की थी। मनगढ़ंत बातों से, बे-सिर-पैर की कहानियां गढ़कर एक दार्शनिक ढांचा खड़ा रखने की कोशिश हुई थी। यही वजह है कि राजे-महाराजे, सामंती सरदार भाववादी दर्शन को संरक्षण दिया करते थे, क्योंकि ये सारी धारणाएं राजतंत्र को कायम रखने में मददगार साबित हुईं। 'इस समाज को चलाता है राजा और इस विश्व-ब्रह्माण्ड को चलाता है ईश्वर। इसलिए राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, उसका नुमाइंदा है। खुद ईश्वर ने राजा पर समाज को चलाने का भार सौंपा है'—उन दिनों समाज में यही धारणा ज्यादा प्रचलित थी। लेकिन एक आदमी किस प्रकार राजा बना, मालिक बना, इसकी जानकारी किसी आदमी को नहीं थी। पुराने इतिहास का विश्लेषण कर किसी ने इसका पता नहीं लगाया। जन्म के बाद से सभी देखते आये

हैं कि वे राजा हैं, उनके पिता राजा थे, फिर उनके पिता भी राजा थे। इसलिए लोगों का मानना था कि शायद खुद ब्रह्मा या अल्लाह ने ही इनके हाथों राज सौंपा है। करीब-करीब इसी तरह की धारणा प्रचलित थी। राजा बनने या राजतंत्र का इतिहास जोर-जुल्म का इतिहास है। लम्बे अरसे के बाद लोग इसे भूल गये। क्योंकि, मानव समाज के क्रम विकास के जिस स्तर में ये सारी चीजें हुईं, उस समय पुस्तक-पोथी का जन्म हुआ था या नहीं—यह आज भी शोध का विषय है। इसलिए लिखकर रखने की कोई गुंजाइश नहीं थी, किसी को जानकारी भी नहीं थी। यही थे हालात। इसलिए आगे चलकर समाज में जब ईश्वर चिंतन का आगमन हुआ, तब से यह मान लिया जाने लगा कि वे ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। इन्हीं कारणों से मैं कह रहा था कि पूरा का पूरा सामंती युग ही भाववादी दर्शन के विकास का युग था। दास प्रथा और सामंती व्यवस्था के इस युग में भाववादी दर्शन का काफी दबदबा था। इसके साथ-साथ भौतिकवादी चिंतन भी चलता रहा; लेकिन वह काफी लड़खड़ाते हुए चल रहा था—मानो भौतिकवादी दर्शन खुद सर्वहारा या *प्रोलेटेरिएट* हो। इतिहास से पता चलता है कि उस दौरान समाज के मुखियाओं ने भौतिकवादियों पर जुल्म ढाये, उनका सामाजिक बहिष्कार किया। हालांकि इन भौतिकवादियों में काफी लोग प्रतिभाशाली (genius) थे, जिन्होंने भाववादियों का विरोध किया और उसके लिए उन्हें काफी कुर्बानियां देनी पड़ी। वे दाने-दाने को मुहताज थे। समाज में उनकी कोई हैसियत नहीं थी, क्योंकि राजतंत्र ने उनका समर्थन नहीं किया। फिर भी उन्होंने पीठ नहीं दिखाई।

नयी संभावनाएं लेकर आया था पूंजी का विकास

लेकिन जब सामंती सामाजिक व्यवस्था के गर्भ से पूंजीवाद पैदा हुआ, तब पूंजी का विकास कुछ नयी संभावनाएं लेकर सामने आया। वे कौन-सी संभावनाएं थीं? पहली, बड़े-बड़े कल-कारखानों के लिए मजदूर चाहिए थे। लेकिन सामंती व्यवस्था में देश के अधिकांश लोग भू-दास थे, वे जमीन से बंधे हुए थे। जमीन के मालिक उन्हें भूदास या अर्द्ध दास बना चुके थे। इसलिए उन सामंतों या रथी-महारथियों के चंगुल से, उनके शोषण से भू-दासों को अगर मुक्त न कराया जाये,

अगर उन्हें जमीन से मुक्त न किया जाये, अगर उन्हें व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र न किया जाये, तो बड़े-बड़े कल-कारखानों (large scale industries) का निर्माण होगा कैसे? मजदूर कहां से मिलेंगे? दूसरी, बड़े-बड़े कल-कारखानों के लिए विज्ञान की तरक्की चाहिए, तकनीकी (technology) की तरक्की चाहिए और यह सब नहीं होने पर खनन (mining), नौ परिवहन (navigation), यातायात व्यवस्था यानी संक्षेप में बड़े-बड़े उद्योगों का निर्माण नहीं हो सकता। जबकि समाज में औद्योगिक विकास की एक सचमुच की चाहत (urge), सही मायने में जरूरत दिखाई दी थी और पूंजीपति वर्ग उसे महसूस करने लगा था। तब पूंजीवाद का चरित्र व्यापारिक पूंजीवाद (marchantile capitalism) का था। यही वजह है कि इस व्यापारिक पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ बड़े-बड़े कल-कारखानों व उद्योगों की मांग समाज में पैदा होने लगी थी। पूंजीपतियों ने इसका इस्तेमाल करना चाहा, वे अपना भरपूर समर्थन देने लगे। उस वक्त पूंजीपति समाज के प्रगतिशील अंश थे, जिन्होंने सामंतवाद की न्याय-नीति, विचार व दर्शन संबंधी तमाम पुरानी धारणाओं के खिलाफ बगावत का एलान किया। कला-साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि तमाम पहलुओं में बगावत शुरू हुई। आवाज उठी—पुराने को तोड़ डालो, नये का आह्वान करो, सत्य को ढूंढ़ निकालो। इसी तरह विज्ञान की विजय यात्रा शुरू हुई। वहीं इस विज्ञान पर रोक लगाने के लिए राजे-महाराजे पिल पड़े। इसलिए यह स्पष्ट है कि बुर्जुआ लोग उस समय विज्ञान के पक्ष में थे। तभी तो उन्होंने उस युग के बड़े वैज्ञानिकों की कद्र की। क्योंकि वे एक बड़ा काम कर गये थे। उनके विज्ञान ने सामंती भावना-धारणाओं पर जमकर प्रहार किया। उस जमाने की विज्ञान साधना से जो बात सामने आयी, वह यह थी कि ये राजे-महाराजे भगवान के प्रतिनिधि नहीं हैं। यह सरासर झूठ है। भगवान खुद भी हैं या नहीं—इसमें भी काफी संदेह है। उनका अस्तित्व तो भौतिक जगत में कहीं भी ढूंढ़े नहीं मिलता। वे कहां हैं—कोई नहीं जानता। विज्ञान ने कहा कि आदमी के दिमाग और कल्पना के अलावा तो भगवान का कहीं अस्तित्व नहीं है और जो खुद नहीं है, उसका फिर प्रतिनिधि कैसा? इससे पुरानी भावना-धारणा की नींव हिल गयी। इसलिए राजा के खिलाफ लड़ने में लोगों को कोई

हिचक नहीं हुई। पाप-पुण्य का डर ही तो लोगों को ज्यादा रोकता है। पहले तो यही धारणा थी कि राजा के विरुद्ध कुछ कहने से ही नरक में जाना पड़ेगा। पंडित, पुरोहित, पादरी, मुल्ला समझाया करते थे कि राजा के खिलाफ बगावत करने से नरक में जाओगे, क्योंकि राजा खुद भगवान का अंश होता है। विज्ञान की साधना से ये सारी धारणाएं ध्वस्त हो गयीं। इसलिए सामाजिक विकास के इतिहास से पता चलता है कि पूंजीवाद के विकास के युग में भौतिकवादी चिंतन-प्रवाह में फिर नये सिरे से लहरें उठने लगीं। भौतिकवादी चिंतन के खुल्लमखुल्ला विकास का द्वार नये सिरे से खुल गया। चारों तरफ विज्ञान की जयजयकार होने लगी। आवाज उठी—विज्ञान पर अमल करो, सत्य की खोज करो, विचार करो, तर्क द्वारा समझो, खुद को बदलो, पुरानी धारणाओं को बदलो। तर्क से जो कुछ अन्यायपूर्ण व गलत लगे, उसे खारिज करो। ये बातें *रेनेशां* की हैं, नवजागरण की हैं, फ्रांसीसी क्रांति की हैं। दर्शन, कला, साहित्य, विज्ञान—सभी क्षेत्रों में यह बगावत शुरू हो गयी थी। यहां एक बात याद रखनी चाहिए। शुरू के दिनों में बुर्जुआ लोग भौतिकवादी होते हुए भी मार्क्सवादियों जैसे भौतिकवादी नहीं थे-उनकी भौतिकवादी अवधारणा में भाववाद का खोट मिला हुआ था। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (dialectical materialism) में भौतिकवाद संबंधी जो अवधारणा है और उन दिनों बुर्जुआ लोग जिस भौतिकवादी अवधारणा को लेकर चले—दोनों में काफी फर्क है। उनकी भौतिकवादी अवधारणा अध्यात्मवाद से पूर्णतः मुक्त नहीं थी। लेकिन इस बात से किसी भी तरह इनकार नहीं किया जा सकता कि उनका चिंतन या दृष्टिकोण मूलतः भौतिकवादी था। सिर्फ इतना ही नहीं, बल्कि पूंजीवाद के आरंभिक काल से लेकर एक जमाने तक भौतिकवादी चिंतन का समाज में अच्छा-खासा प्रभाव था और उसने प्रचलित भाववादी चिंतन पर जमकर आघात किया था। यह आप सुन चुके हैं। उनका रुझान विज्ञान की ओर था। उस समय पूंजीपतियों ने वैज्ञानिक चिंतन, तर्क और न्याय-नीति के आधार पर ही सब कुछ विचारने की तरफदारी की थी। क्योंकि, पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए तत्कालीन प्रतिक्रियावादी ताकतों, यानी राजा-महाराजाओं के खिलाफ, भूदास प्रथा के खिलाफ उन्हें लड़ना पड़ा। भूदासों को मुक्त

कराना पड़ा। इसलिए उन्हें व्यक्तिगत आजादी, व्यक्तिगत स्वतंत्रता का नारा लगाना पड़ा। इस तरह से लड़कर ही उन्हें आज हम जिस संसदीय व्यवस्था को देखते हैं, उसकी बुनियाद खड़ी करनी पड़ी और इस प्रकार उन्होंने औद्योगिक विकास किया, उत्पादन में तरक्की की, पूंजीवाद का विकास किया। फिर इसके लिए उन्हें एक और काम करना पड़ा। प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप में, कम-से-कम कानून की नजर में ही सही, आजाद करना पड़ा। हालांकि यह सही है इस व्यवस्था में आदमी पूरी तरह आजाद नहीं हुआ। भूदासता (serfdom) से मुक्त होने पर भी भूदास (serf) आजाद नहीं हो सके। वे उजरती दास (wage slave) में तब्दील हो गये। भूदास जमीन से, अपनी गुलामी और बंधन से मुक्त होकर मजदूर में, कल-कारखानों के मजदूर में तब्दील हो गये। जमीन से मुक्त होकर भी अंततः वे उजरती दास में क्यों तब्दील हो गये? इसलिए कि वे कहां जाते, क्या खाते? अतः भले ही वे जमींदारों के बंधन से मुक्त तो हो गये, लेकिन उसके बाद भी अब उन्हें कल-कारखानों के मालिकों की शरण में जाना पड़ा। लिहाजा जिन्हें बुर्जुआ लोगों ने मुक्त किया, फिर उन्हें ही करीब-करीब अर्द्ध दास में तब्दील कर दिया। यानी मालिकों की मन माफिक मजदूरी पर वे कल-कारखानों में काम करने को मजबूर हुए। क्योंकि पूंजीवाद का नियम ही है बेरोजगार पैदा करना। इसलिए इसका फायदा उठाकर कम तनख्वाह में मजदूरों से काम लेना शुरू हुआ। इसलिए हम पाते हैं कि बुर्जुआ लोग समाज को ज्यादा आगे नहीं ले जा सके। एक समय आकर पूंजीपति ही प्रतिक्रियावादी ताकत बन गये। यानी जो बुर्जुआ लोग ज्ञान-विज्ञान, निरीक्षित-परीक्षित सत्य और तर्क पर शुरू में जोर दिया करते थे, बुर्जुआ व्यवस्था जब प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ व्यवस्था में तब्दील हो गयी, जब बुर्जुआ वर्ग क्रांतिकारी वर्ग की बजाय आज के जमाने के निहित स्वार्थी वर्ग में तब्दील हो गया, तब उन्हीं बुर्जुआ लोगों ने विज्ञान से मुंह मोड़ लिया। वे भाववादी दर्शन तथा भाववादी चिंतन की तरफदारी करने लगे, विज्ञान की लगाम खींचने लगे। तब ऐसे हालात दिखाई दिये, जब शासन-शोषण की अपनी व्यवस्था कायम रखते हुए पूंजीवाद समाज को और आगे नहीं ले जा पा रहा है। समाज का विकास नहीं कर पा रहा है, उद्योगों का जितना विकास कर पा रहा

है, उससे कहीं अधिक संकट बढ़ाता जा रहा है। यूं कहा जा सकता है कि और भी बड़े संकट को न्यौता दे रहा है।

मरणासन्न पूंजीवाद विज्ञान की प्रगति में बाधक

ऐसे में, पूंजीवाद लोगों का और भला नहीं कर सकता, मानव को मुक्ति का रास्ता नहीं दिखा सकता। तब उसके पास शोषण के अभिशाप के सिवा लोगों को देने लायक कुछ भी नहीं होता है। यही वजह है कि पूंजीवाद आज जीवन पर एक बोझ स्वरूप लदा हुआ है। देखिए, कैसी विचित्र बात है! पूंजीवाद के विकास के जमाने में जिन पूंजीपतियों ने सामंतवाद के खिलाफ, सामंती रूढ़िवादिता और धार्मिक अंधता के खिलाफ संघर्ष किया, भाववादी दर्शन के खिलाफ लड़कर भौतिकवादी दर्शन को स्थापित करना चाहा, जिन्होंने विज्ञान की तरक्की का एलान किया–वही पूंजीपति वर्ग बाद के दिनों में निहित स्वार्थियों की तरह, सामंतों की तरह फिर भौतिकवादी चिंतन से मुंह फेरकर भाववाद की तरफ झुकता जा रहा है। अब वे 'राम-नाम' जप रहे हैं। आज वे ही अध्यात्मवाद के पुजारी हैं। 'विज्ञान का फायदा भी है और नुकसान भी'–इस तरह की चर्चाओं की शुरुआत कर, तरह-तरह की उल्टी-सीधी चर्चा कर विज्ञान के संबंध में गलत धारणाएं पैदा कर रहे हैं। लेकिन वे विज्ञान को दरकिनार भी नहीं कर सकते, क्योंकि पूंजीवादी औद्योगिक उत्पादन एक ऐसे स्तर पर पहुंच चुका है, जहां उनके बूते विज्ञान को पूरी तरह दरकिनार कर देना भी नामुमकिन है। इसलिए पूंजीपतियों को जितनी जरूरत है, उसी जरूरत के मुताबिक वे विज्ञान को जारी रखे हुए हैं या उसकी कुछ-कुछ तरक्की करायी है, लेकिन उसकी जो रफ्तार थी, उसे धीमा कर डाला है। पूंजीपतियों ने विज्ञान की तरक्की को शुरुआती दिनों में जिस ताकत से प्रोत्साहित किया था, जिस हद तक मदद की थी–आज वे ऐसा नहीं कर रहे हैं। वरन् भरसक वे विज्ञान की प्रगति को धीमी कर रहे हैं। क्योंकि, विज्ञान की प्रगति आज उनके लिए संकट का सबब है। आज विज्ञान की प्रगति वर्गगत रूप में ही उनके अस्तित्व के लिए संकट पैदा कर रही है।

संकट का मूल कारण है पूंजीपतियों के अधिकतम मुनाफे के मकसद से संचालित उत्पादन व्यवस्था

यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऐसा हुआ ही क्यों? जिस पूंजीवाद ने एक जमाने में समाज को आगे बढ़ाया, सामंती व्यवस्था के खिलाफ क्रांति की, विज्ञान को हथियार बनाकर चलना चाहा, सत्य की साधना की, पुराने धार्मिक मूल्यों के खिलाफ मानवतावादी सोच व चेतना के आधार पर नये मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्ष किया, सामाजिक तरक्की में मदद की; वही पूंजीवाद बदले हुए वक्त में आकर क्यों सभी क्षेत्रों में उल्टा राग अलाप रहा है? ऐसा इसलिए हुआ कि इतना कुछ होते हुए भी बुर्जुआ लोग श्रम को शोषण से मुक्त नहीं कर सके, मालिक द्वारा किये जा रहे शोषण के चंगुल से मुक्त नहीं कर सके। मालिकाने की व्यवस्था पर आधारित मौजूदा समाज में उत्पादन का उद्देश्य मालिक के लिए सिर्फ मुनाफा हासिल करना ही नहीं, बल्कि अधिकतम मुनाफा हासिल करना है। देश के लोगों का, कल-कारखानों में काम कर रहे मजदूरों का शोषण किये बिना पूंजीपति यह मुनाफा नहीं कमा सकते। इसी रास्ते आम लोग निरंतर वंचित होते-होते बदहाल हो गये हैं। प्रतियोगिता में मुकाबला न कर पाने के कारण अधिकांश मालिक छोटे मालिक ही रह गये हैं या छोटे मालिक में तब्दील हो गये हैं। दूसरी तरफ मुट्ठीभर मालिकों के हाथों में समाज की अधिकांश धन-दौलत सिमट गयी है। पूंजीवाद के विकास के चलते समाज में जब एक ऐसी परिस्थिति आ पहुंची, तभी पूंजीवाद एकाधिकारी पूंजीवाद में तब्दील हुआ, यानी पूंजीवाद का संकट और गहरा गया। इसका नतीजा क्या हुआ? इस बात को अच्छी तरह समझ लेना जरूरी है। आप तो जानते हैं कि आम लोगों की न्यूनतम आवश्यकताएं चाहे जो भी हों, पूंजीवादी शोषण के चलते लोगों की क्रय-शक्ति जरूरत से काफी कम है। हालांकि विज्ञान की प्रगति और तकनीकी विकास काफी अधिक होने की वजह से समाज में उत्पादन या उत्पादक शक्तियों की बड़ी भारी बढ़ोतरी हुई है। नतीजतन, पूंजीवादी व्यवस्था में अति उत्पादन (over production) की समस्या दिखाई देती है। अति उत्पादन कहने का क्या अर्थ है? बाजार की मांग के मुकाबले अधिक उत्पादन। क्या इस मांग का अर्थ वास्तविक

आवश्यकता है? हरगिज नहीं। वरन् व्यक्ति के खरीदने की ताकत, तमाम लोगों के खरीदने की ताकत ही मौजूदा पूंजीवादी समाज या उस बाजार की मांग होती है। इस मांग से जब उत्पादन ज्यादा हो जाता है, तो उसे अति उत्पादन कहा जाता है। तभी संकट दिखाई पड़ता है। फिर तो छंटनी की तलवार लटक जाती है। नतीजतन, बेरोजगारों की तादाद बढ़ती जाती है और पूंजीपतियों के सामने नित्य नयी-नयी समस्याएं आती रहती हैं। मसलन, एक नयी मशीन चालू करने पर ज्यादा तादाद में लोगों की छंटनी हो जाती है। बेरोजगार मजदूर हो-हल्ला करने लगते हैं। यह छंटनी क्यों होती है? छंटनी उस मशीन या विज्ञान की तरक्की की वजह से नहीं, बल्कि मुनाफाखोरी के आधार पर टिकी इस सामाजिक व्यवस्था की वजह से होती है। चूंकि पूंजीपति मशीन को मुनाफे के लिए इस्तेमाल करते हैं, पूरा का पूरा उत्पादन पूंजीपतियों के मुनाफे के हित में चलता है। इसलिए मजदूरों की छंटनी होती है। हालांकि इन घटनाओं को दिखाकर पूंजीपति वर्ग लोगों में विज्ञान-विरोधी मानसिकता पैदा करता है। आम अवाम भी चेतना की कमी और मामले को सही-सही नहीं समझ पाने की वजह से विज्ञान को ही अपना दुश्मन समझ बैठता है।

विज्ञान नहीं, पूंजीवाद ही है मनुष्य का दुश्मन

जैसे मान लीजिए, किसी वक्त एक क्रेन के आ जाने पर कई बार मजदूरों को लगता है कि वह क्रेन ही उनकी दुश्मन है और वे उसे तोड़-फोड़ देना चाहते हैं। क्यों? क्योंकि क्रेन के आने से पहले एक हजार मजदूर माल ढोते थे, चढ़ाते और उतारते थे। लेकिन आज क्रेन के आ जाने पर पांच सौ मजदूरों से ही वह काम हो जाता है। लिहाजा क्रेन आने से पांच सौ लोगों की छंटनी हो जाती है। मालिक लोग मजदूरों को बैठाकर तो खिलायेंगे नहीं। क्रेन के आने से मालिक का खर्च कम हुआ, श्रम की लागत (labour cost) यानी मजदूरों की मजदूरी की बाबत जो खर्च होता है, वह कम हो गया और मालिक का मुनाफा बढ़ गया। लेकिन मजदूरों की छंटनी हो गयी। यही सब देखकर मजदूरों को लगता है कि मशीन ने ही उनकी नौकरी छीन ली। परन्तु मजदूरों की यह धारणा गलत है, क्योंकि मशीन ने उनकी नौकरी खत्म

नहीं की। मशीन के आने से तो उनका जीवन सुखमय होना था। पहले जहां उन्हें कालिख लगी यानी मैली-कुचैली हालत में, कड़ी मेहनत कर, माथे से पसीना बहाकर जीविकोपार्जन करना पड़ता था। लेकिन आज मशीन के आ जाने के चलते वे कुर्सी पर बैठकर बटन दबाकर काम कर सकते हैं। यह सुख-सुविधा तो मशीन ने ही दी। इससे तो उनकी नौकरी जाने की कोई बात नहीं थी। लेकिन नौकरी इसलिए गयी कि क्रेन का इस्तेमाल मालिक के मुनाफे के लिए मालिक के स्वार्थ में हुआ। तमाम पूंजीवादी देशों की उत्पादन व्यवस्था का मूल उद्देश्य लोगों को रोजगार देना नहीं, मशीनों का विकास कर मनुष्य के काम में आराम ला देना नहीं, बल्कि उसका मूल उद्देश्य पूंजीपतियों का उत्पादन खर्च (cost of production) घटाकर अधिकाधिक मुनाफा कमाना होता है। चूंकि तमाम पूंजीवादी देशों का उत्पादन इसी लक्ष्य से संचालित होता है, इसलिए मजदूरों की छंटनी होती है। इसलिए मजदूरों को समझना होगा कि मालिकों के मुनाफे के लक्ष्य की बजाय अगर लोगों की जरूरतें पूरी करने के लिए उत्पादन संचालित होता, तो यह परिस्थिति पैदा नहीं होती। इसलिए मशीन को पूंजीवादी शोषण, मुनाफखोरी और निजी मालिकाने के चंगुल से मुक्त करना होगा। विज्ञान और तकनीकी को इसके चंगुल से मुक्त करना होगा। अगर मजदूर यह काम कर सकें, तो मशीनें उनके जीवन में सुख ला देंगी। बिना मशीनों के काम करने से उनकी जो मेहनत होती है, उनको जो अमानवीय मेहनत करनी पड़ती है—मशीनों की मदद से वे उससे बहुत कम समय में, कम मेहनत में ज्यादा काम कर सकेंगे। काम करने में उन्हें आराम मिलेगा, आनंद मिलेगा, खुशी मिलेगी। इसलिए मशीन उनकी दुश्मन नहीं है, दुश्मन है पूंजीवाद। समाज में अति उत्पादन की समस्या, छंटनी की समस्या, बेरोजगारी की समस्या, महंगाई की समस्या—इन तमाम समस्याओं की जड़ है संकटग्रस्त पूंजीवाद। चूंकि पूंजीवाद में मालिक का अधिकतम मुनाफा ही मूल लक्ष्य होता है, इसलिए पूंजीवादी व्यवस्था में कई बार तो पूंजीपति वर्ग या उनके द्वारा संचालित राजसत्ता अतिरिक्त उत्पादन को फेंक देती है, नष्ट कर डालती है, लेकिन फिर भी उसे अभावग्रस्त लोगों को सस्ते रेट पर नहीं बेचती है। यह एक विडम्बना है। एक समय अमेरिका में टनों

रूई-कपास समुद्र में डुबो दी गयी। लेकिन उसे आम जनता को सस्ते दामों पर नहीं बेचा गया। हमारे देश में युद्ध के दौरान ढेरों जीपों, ट्रकों को तोड़-फोड़कर कबाड़ में तब्दील करके कबाड़ के भाव बेच दिया गया। हो सकता है व्यक्तिगत तौर पर किसी-किसी अधिकारी ने चोरी-छिपे दो-एक जीप बेच डाली हो—वह बात अलग है। लेकिन मैं जो बताना चाहता हूं, वह यह है कि इन चीजों को बर्बाद कर दिया गया, समुद्र में डूबो दिया गया, फिर भी सस्ते दामों पर नहीं बेचा गया। क्यों? ऐसा नहीं करने से चालू उद्योग (running industry) मार खा जायेंगे। जीपों को यदि कम दामों में बेचना प्रारंभ कर दिया जाये या मुफ्त में बांट दिया जाये, तो टाटा-बिड़ला के कल-कारखाने कैसे चलेंगे? तब तो फोर्ड कम्पनी फेल ही हो जायेगी! मुफ्त में या कम दाम पर जीप मिल जाने पर भला ज्यादा पैसे देकर कौन खरीदेगा? वे मुनाफा रखे बिना, लागत खर्च (cost of production) के ऊपर हिसाब लगाकर मुनाफा लिये बिना माल क्यों बेचेंगे? अब बाजार में उस दाम पर खरीदने वाले लोगों के मुकाबले माल ज्यादा हो जाने पर उनके लिए वह अतिरिक्त उत्पादन हो जाता है और वह उनके लिए संकट का सबब बन जाता है। इसलिए विज्ञान की तरक्की और तकनीकी विकास-उन्नति पूंजीवादी व्यवस्था में और भी संकट को न्यौता दे रही है। कहीं विज्ञान की और ज्यादा तरक्की से किसी दिन एक झटके में उनकी उत्पादन व्यवस्था ही न उलट जाये, इसलिए वे उत्पादन में परमाणु ऊर्जा (atomic energy) का इस्तेमाल नहीं कर सकते। विद्युत ऊर्जा के इस्तेमाल से ही तो उनके यहां उत्पादन अतिरिक्त हुआ जा रहा है। उस पर अगर वे परमाणु ऊर्जा का इस्तेमाल करने लगे, तब तो उनका सर्वनाश ही हो जायेगा। देखें, तभी तो हमारे जैसे पिछड़े पूंजीवादी देशों में आज भी विद्युत ऊर्जा का इस्तेमाल वे हर जगह नहीं कर रहे हैं। वे कोयला जला रहे हैं। इसके अलावा और भी कितना कुछ कर रहे हैं। यानी विद्युत ऊर्जा की जो पूरी क्षमता है, वे उस क्षमता के पूरे इस्तेमाल का भी फायदा नहीं उठाना चाहते हैं। क्योंकि ऐसा करने से उत्पादन शक्ति (productive force) इतनी बढ़ जायेगी कि उस अनुपात में उनका बाजार नदारद है। उन्होंने लोगों का खून निचोड़कर उनकी जेब खाली कर दी हैं। उनके निर्धारित मूल्य पर

इतना ज्यादा उत्पादित सामान खरीदने वाले लोग बाजार में नहीं हैं। हालांकि लोग काफी हैं और उनकी जरूरतें भी काफी हैं। लेकिन उनके निर्धारित मूल्य पर खरीदने वाले ज्यादा लोग नहीं हैं। यह हुई पहली समस्या।

दूसरी समस्या 'रेशनलाइजेशन' की समस्या है। मालिक लोग मुनाफे के लिए कारखाना खोलते हैं। लोगों को रोजगार देंगे, भोजन का प्रबंध करेंगे, बेरोजगारी की समस्या दूर करेंगे–इसके लिए वे कारखाने नहीं खोलते। मालिक लोग कारखाना खोलते हैं अपने लाभ के लिए। अगर उन्हें पता चलता है कि किसी मशीन के लाने पर कम खर्च में ही अधिक मुनाफा होगा, तो वे ज्यादा मजदूर नहीं लगायेंगे। नतीजतन, बेरोजगारी की समस्या और बढ़ेगी। 'रेशनलाइजेशन' यानी नयी-नयी मशीनों के इस्तेमाल करने पर मजदूरों की छंटनी होगी। तब 'इंकलाब-जिन्दाबाद', 'हमारी मांगें पूरी करो' आदि नारे लगेंगे। नारे तो लगेंगे ही। क्योंकि भूखे मरते लोगों को लेक्चर देकर कितना बहलाया जा सकता है। लिहाजा पूंजीपतियों के लिए, उनकी सरकारों के लिए यह सब बहुत बड़ा झंझट है। इस पहलू से देखने पर विज्ञान उनके लिए आज एक अभिशाप बन गया है। इसलिए समाज में जो भी थोड़ा-बहुत विज्ञान है, वह पूंजीपतियों के वर्ग स्वार्थ में शोषण और मुनाफे के हित में ही इस्तेमाल हो रहा है। इसलिए हम जो आज समाजवादी क्रांति की बात करते हैं, राज्य क्रांति की बात करते हैं, वह क्या है? उस क्रांति का अर्थ है मुक्ति–पूंजीपतियों के शोषण-जुल्म से मजदूर-किसानों की मुक्ति, मालिक के मुनाफे के चंगुल से विज्ञान की मुक्ति और पुरुषों के जुल्म, जोर-जबर्दस्ती से स्त्रियों की मुक्ति। इस प्रकार के अनेकों बंधनों से अनेक दृष्टियों से सभी की मुक्ति की जरूरत है। महिलाओं की मुक्ति चाहिए पारिवारिक बंधनों से। अब तो हम लोगों ने काम का बंटवारा कर लिया है। हम महिलाओं को कहते हैं कि तुम घर में खाना पकाने का काम करो, मसाला पीसो, बच्चों की देखभाल करो, मैं बाहर से कमाकर लाता हूं। हमने कुछ इस तरह का बंटवारा कर लिया है। दोनों के अलग-अलग विभाग हैं। लेकिन परिवारों को इस प्रकार न रखकर वैज्ञानिक योजना के तहत नये ढंग से गठित किया जा सकता है। लेकिन अब इसकी गुंजाइश नहीं है।

परिवारों को इस प्रकार गठित कर पाने से महिलाएं कह सकेंगी–''हम दोनों ही कमायेंगे। परिवार के छोटे-मोटे काम हम दोनों ही बीच-बीच में समय निकालकर निबटा लेंगे। कार्यालय में काम के दौरान बच्चों की देख-भाल के लिए नर्सरी है, किंडर गार्टेन है–उन्हें वहां छोड़ आयेंगे। कार्यालय से लौटते वक्त हममें से कोई उन्हें ले आयेगा। तब पारिवारिक काम दोनों बराबर निपटा सकते हैं। नतीजतन, पारिवारिक गुलामी से हम महिलाएं तभी मुक्त हो सकती हैं।'' और क्या? आर्थिक गुलामी, पुरुषों की गुलामी से महिलाओं की मुक्ति जरूरी है। समान अधिकार, समान इज्जत और प्रेम के आधार पर तथा नर-नारी के बीच नये रिश्ते कायम करने के आधार पर ही इस मुक्ति की दरकार है।

इसलिए मैं कह रहा था कि किसान-मजदूरों–सभी को आर्थिक और राजनैतिक गुलामी से मुक्ति की जरूरत है और पूंजीवादी शोषण से विज्ञान की मुक्ति जरूरी है। इसलिए इस सर्वांगीण मुक्ति की जरूरत से ही हमारा यह संघर्ष है, समाजवाद की स्थापना का संघर्ष है। इसलिए समाजवाद का संघर्ष सिर्फ मजदूर-किसानों का ही संघर्ष नहीं है, महिलाओं का भी संघर्ष है, हर व्यक्ति का संघर्ष है। समाजवाद का यह संघर्ष विज्ञान को पूंजी के बंधन से मुक्त कर उसे आम लोगों के लिए इस्तेमाल करने का संघर्ष है। लेकिन मालिक वर्ग और निहित स्वार्थ वाले लोग समाज की प्रगति नहीं चाहते। क्योंकि समाज में जो कुछ भी सम्पदा है, वही उनके लिए काफी है। वे मालिक की हैसियत से समाज का सब कुछ लूटकर खा रहे हैं। उनके ऐशो-आराम में कोई कमी नहीं है। इसलिए वे इस व्यवस्था को छोड़कर दूसरी किसी व्यवस्था में जाना नहीं चाहते। लेकिन इस व्यवस्था में तमाम चीजों से जो लोग वंचित हैं, जो शोषित-पीड़ित हैं, इस सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त करना उनके लिए ही जरूरी है।

सच्चाई जानने की जरूरत सर्वहारा वर्ग को ही सबसे ज्यादा है

आज हम इस पूंजीवादी समाज में क्या देख रहे हैं? हम देख रहे हैं कि पूंजीवाद-विरोधी आंदोलन, मजदूर-किसान-निम्न मध्यम वर्ग के आंदोलन गठित हो रहे हैं ताकि विज्ञान को, उत्पादन व्यवस्था को

शोषण के उद्देश्य (motive) से यानी मुनाफे के उद्देश्य से मुक्त कर उसका इस्तेमाल सामाजिक जरूरत में किया जा सके। निजी मालिकाने को उखाड़ फेंककर उत्पादन व्यवस्था पर सामाजिक मालिकाना कायम करने के लिए सर्वहारा वर्ग यानी किसान-मजदूर वर्ग कोशिश कर रहा है। इसलिए वे मौजूदा समाज को ध्वस्त करना चाहते हैं। इस समाज को ध्वस्त कर नये समाज के निर्माण के लिए, विज्ञान और उत्पादन व्यवस्था की बे-रोकटोक तरक्की के लिए अब तक विज्ञान की सहायता से वे जिन सच्चाइयों को जान पाये हैं, उससे उनका काम चलने वाला नहीं है। वे विज्ञान की और तरक्की चाहते हैं, और नयी-नयी सच्चाइयों को जानना चाहते हैं, दुनिया को और अच्छी तरह जानना चाहते हैं। आज सर्वहारा वर्ग को जरूरत है कि विज्ञान की ताकत और बढ़े, उत्पादन में और बढ़ोतरी हो, लोगों को और अधिक उपभोग करने का मौका मिले और विज्ञान की इस देन को घर-घर में पहुंचा दिया जाये। क्योंकि समाजवादी व्यवस्था में अति उत्पादन जैसी कोई समस्या नहीं होती है। समाजवादी देश में मालिकों के हित में या मुनाफे के उद्देश्य से उत्पादन संचालित नहीं करना पड़ता। इसी वजह से विज्ञान की तरक्की को उन्हें रोकने की जरूरत नहीं होती। इसलिए आज सर्वहारा वर्ग ही विज्ञान को पूंजीवादी जंजीरों से पूर्णतः मुक्त करना चाहता है। क्योंकि सच्चाई को अवरुद्ध रखने से सर्वहारा वर्ग को ही सबसे अधिक नुकसान है। सत्य की खोज की जिसे सबसे अधिक जरूरत है, जिसका काम झूठ-फरेब से नहीं चल सकता–वह है सर्वहारा वर्ग। आज सच्चाई और ज्ञान की सबसे ज्यादा जरूरत मजदूर, किसान, निम्न मध्यम वर्ग तथा आम अवाम को है। क्योंकि, ज्ञान के दीपक के बिना, ज्ञान के हथियार के बिना अज्ञात समस्याओं की तह में वे रोशनी नहीं डाल सकते। पूंजीपति वर्ग ने पूरे समाज में जितनी सारी धोखेबाजियों, जितने सारे आर्थिक रहस्यों, सामाजिक रहस्यों, भ्रम-भ्रांतियों और साजिशों के जाल बिछा रखे हैं–अगर उनकी गुत्थियों को सुलझाना है, जकड़बन्दियों से छूटकारा पाना है, तो ज्ञान का दीप जलाना होगा। और उस दीप का जलना विज्ञान के जरिये ही मुमकिन है। इसलिए आज की दुनिया में विज्ञान के साधक बुर्जुआ लोग नहीं, बल्कि सर्वहारा वर्ग ही है। शुरुआती दौर में बुर्जुआ लोग विज्ञान के

जितने साधक थे, आज सर्वहारा वर्ग उससे कहीं ज्यादा विज्ञान का उपासक है। इस विज्ञान से मेरा तात्पर्य सिर्फ तकनीकी विज्ञान से नहीं है, बल्कि मैं तो मनुष्य के चिंतन-मनन, मानसिक गठन और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के पहलुओं की बात ही ज्यादा जोर देकर कह रहा हूं। क्योंकि सर्वहारा का, मजदूरों का मानसिक गठन वैज्ञानिक आधार पर ही निर्भरशील है। शुरुआती दौर में बुर्जुआ लोगों की मानसिकता तत्कालीन भाववादी समाज के आधार पर ही निर्मित थी। उनके विज्ञान जगत का निर्माण भी उसी के आधार पर हुआ था। लेकिन हमारी नयी विज्ञान साधना की जो चाहत है, जो उम्मीदें हैं–उसका निर्माण वर्तमान की वस्तुनिष्ठ स्थिति और वास्तविक जीवन के आधार पर निर्मित हुआ है। इसलिए जहां तक सर्वहारा का सवाल है, हमारा सवाल है, भौतिकवादी चिंतन और भी उन्नत हुआ है, यह और भी पूर्णता (perfection) पर पहुंचा है। भाववादी दर्शन से पूरी तरह से मुक्त होकर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (dialectical materialism) का जन्म हुआ है–जो कि मार्क्सवाद की दार्शनिक बुनियाद है।

मार्क्सवाद के सिवा दूसरे भौतिकवादी दर्शन भाववाद के प्रभाव से मुक्त नहीं

इस प्रसंग में हमें जानना चाहिए कि दुनिया में मार्क्सवाद ही एकमात्र भौतिकवादी दर्शन नहीं है। मार्क्सवाद के अलावा भी बहुत सारे भौतिकवादी दर्शन हैं। सिर्फ यूरोप में ही नहीं, हमारे देश में भी अनेक भौतिकवादी दर्शनों का जन्म हुआ। लेकिन उन तमाम भौतिकवादी दर्शनों के साथ मार्क्सवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का बुनियादी फर्क है। मार्क्सवाद के सिवा कोई दूसरा भौतिकवादी दर्शन भाववाद से मुक्त नहीं है। हालांकि उनका बुनियादी पहलू, चिंतन की मुख्य पद्धति या ढांचा भौतिकवादी ही है। फिर भी वे भाववाद के प्रभाव से पूरी तरह से मुक्त नहीं हो पाये। उन सब दर्शनों के लिए वैज्ञानिक नियमों, भौतिक जगत के पूरे रहस्यों व उसके नियमों को सही ढंग से जानना संभव नहीं हुआ। वे इसलिए नहीं जान सके कि उन्हें जानने के लिए उन दिनों विज्ञान की जितनी तरक्की होनी चाहिए थी, उतनी तरक्की नहीं हो पायी थी। विज्ञान की एक स्तर तक तरक्की हो जाने से पहले

भौतिक जगत के सामान्य नियमों को जानना किसी भी मनीषी के लिए संभव नहीं था। बात ऐसी नहीं है कि मार्क्स से पहले उनके जैसे प्रतिभावान (genius) व्यक्ति का जन्म नहीं हुआ था। विचार का यह कोई पैमाना ही नहीं है। दरअसल थोड़ा गौर करने पर हम समझ पायेंगे कि मार्क्सवाद के जन्म के पीछे तत्कालीन पूंजीवादी व्यवस्था की जनवादी सोच, मानवतावादी विचारधारा, मजदूर वर्ग की पैदाइश और तत्कालीन विज्ञान के आविष्कार रहे हैं। इन सब के आधार पर ही मार्क्सवाद का जन्म हुआ है, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (dialectical materialism) का जन्म होना संभव हुआ है।

हम इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि मार्क्सवाद के सिवा अन्य सभी भौतिकवादी दर्शन मार्क्सवादी दृष्टिकोण से एक मायने में भाववाद (idealism) हैं। क्यों? क्योंकि अन्य भौतिकवादी दर्शनों का चिंतन मूलतः भौतिकवादी होते हुए भी–सत्य को पूरी तरह से न जानने के चलते अन्य सभी भौतिकवादी दर्शनों में सत्य को शाश्वत बना दिया गया है, जड़सूत्रवत् (dogma) बना दिया गया है–मनगढ़ंत धारणा के जरिये सत्य को बंधे-बंधाये सांचे में ढाल दिया गया है। हो सकता है वह धारणा भौतिकवादी ही हो–लेकिन वह मनगढ़ंत है, जांची-परखी हुई नहीं है। वह धारणा मनगढ़ंत होने की वजह से और उनकी धारणा में सत्य शाश्वत और अपरिवर्तनीय होने की वजह से जिस प्रकार भगवान की धारणा असत्य और निष्फल है, उसी तरह वस्तु के संबंध में उनकी धारणा भी असत्य और निष्फल धारणा में तब्दील हो चुकी है। मैं भगवान की धारणा को निष्फल क्यों कह रहा हूं, असत्य क्यों कह रहा हूं? वह इसलिए कि वास्तविकता के साथ उसका कोई संबंध नहीं है। नतीजतन वह वास्तविकता से संबंधविहीन है और इसी वजह से निष्फल है–क्योंकि उससे कोई काम नहीं होता है। जैसे मान लीजिए, मैं ईश्वर को नहीं मानता, भगवान को नहीं मानता, लेकिन मेरी वस्तु संबंधी धारणा असत्य है। ईश्वर को न मानते हुए भी अगर मेरी कोई ऐसी धारणा हो, जो असत्य और अवास्तविक हो, तो उस असत्य धारणा की वजह से भी मैं भाववादी बन जा सकता हूं। जिस प्रकार आज ईश्वर की धारणा या भाववादी धारणा से कुछ हासिल नहीं होता, दुनिया का कोई भी विकास, कोई भी प्रगति इन सब भाववादी

धारणाओं से संभव नहीं है–उसी प्रकार इन सारी असत्य भौतिकवादी धारणाओं से कुछ भी मिलने वाला नहीं है। लिहाजा कार्य-व्यवहार के मामले में वह भाववाद का ही पर्याय है। यूं कहा जाये कि कुछ अंधविश्वासों का नतीजा है, कुछ सूत्र (formulae) हैं, जिन्हें उन्होंने शाश्वत बना डाला है। जिस प्रकार भाववादी लोग भाववाद के जन्म के बाद से ही भगवान को मानते आये हैं और भगवत चिंतन तथा और सटीक तौर पर कहा जाये तो भाववादी चिंतन के आधार पर भला-बुरा, न्याय-नीति का निर्माण किया है और उन्हें शाश्वत, अपरिर्वतनीय धारणा बना डाला है–भगवान को न मानते हुए भी कोई भौतिकवादी दर्शन अगर इस प्रकार की कुछ शाश्वत, अपरिवर्तनीय धारणाएं लेकर चलता रहे और कहता रहे, 'ये हमेशा के लिए शाश्वत रहेंगी।' तो क्या वह वास्तविकता और सच्चाई का पता लगा सकता है? भगवान को न मानते हुए भी, भौतिकवाद की बात करते हुए भी यह भाववाद ही है, बस केवल नाम में ही अंतर है।

अन्य भौतिकवादी दर्शनों की कमजोरियां

यही वजह है कि यूरोप के फूअरबाख और उससे भी पहले अनेक दार्शनिक तथा हमारे देश के चार्वाक भौतिकवादी होते हुए भी भाववाद के प्रभाव से मुक्त न हो सके। शुरू में मनुष्य का चिंतन भौतिकवादी होने के बावजूद वस्तु के संबंध में सही धारणा निर्मित न होने की कमजोरी की वजह से ही भाववाद का जन्म हुआ। हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि दुनिया में उन दिनों मनुष्य के सामने जो तमाम समस्याएं मुंह बाये खड़ी थीं, उनके संबंध में सही धारणा बनाना या ज्ञान प्राप्त करना उसके लिए मुमकिन नहीं था। इसीलिए वस्तु को जानना चाहते हुए भी, वस्तु को लेकर सोचते हुए भी, वस्तु से परे किसी सत्ता की धारणा नहीं पैदा होने के बावजूद मनुष्य की बुद्धि, विज्ञान और उत्पादन व्यवस्था जिस स्तर पर थी यानी उसकी जो सीमाबद्धता थी और दीन-हीनता थी, वस्तु और उसकी गति-प्रकृति के संबंध में धारणा इतनी पिछड़ी हुई थी कि वे धारणाएं सत्य के आस-पास नहीं पहुंच पायीं। इसी का फायदा उठाकर एक खास वस्तुनिष्ठ परिस्थिति में भाववाद का जन्म हुआ, जिस परिस्थिति के

बारे में मैं पहले ही चर्चा कर चुका हूं। इसी तरह उन दिनों भौतिकवाद, भाववाद से परास्त हुआ।

वस्तु और मन का आपसी संबंध

17वीं-18वीं शताब्दी के अनेक भौतिकवादी भी फिर वैसी ही कई गलतियां कर बैठे। उनका मानना था कि मन जैसी कोई चीज नहीं होती है। वह तो वस्तु की एक क्रिया है, मात्र एक शारीरिक क्रिया (physiological action) है। मन के संबंध में उनकी धारणा यांत्रिक थी। मन की भी एक शक्ति है, वस्तु पर भी उसकी एक क्रिया होती है—इसे वे नहीं मानते थे। उनका कहना था कि शारीरिक क्रिया ही तो मन की क्रिया है। इसलिए वह तो सिर्फ शारीरिक प्रतिक्रिया (physiological reaction) है—मानसिक धारणा-वारणा कुछ नहीं है। यानी उस जमाने में यह वास्तविक अवधारणा मौजूद नहीं थी कि जिस प्रकार शरीर का मन पर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार शरीर पर भी मन का प्रभाव काम करता है, एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया (react) करते हैं। इनके बीच द्वन्द्वात्मक संबंध है। शरीर बीमार हो जाने पर मन की हालत बदलती है, लेकिन मन के बीमार होने पर शरीर भी बीमार हो सकता है—ऐसी अवधारणा उनकी नहीं थी। वे यह नहीं जानते थे, नहीं समझते थे कि मन की भी एक सापेक्ष स्वतंत्रता (relative independence) है। मन शरीर से अलग-थलग या विच्छिन्न नहीं है। शरीर से मन को कभी अलग नहीं किया जा सकता। ये दोनों एक-दूसरे से संबंधित हैं—यह सब सही है। लेकिन मन की भी अलग गति है, शक्ति है और उस पहलू से सापेक्ष रूप में ही क्यों न हो, उसकी एक स्वतंत्रता भी है—जिसे हम मन की सापेक्ष स्वतंत्रता कहते हैं—यह धारणा 19वीं शताब्दी के भौतिकवादियों की नहीं थी। क्योंकि तब तक शरीर विज्ञान (physiology) और मनोविज्ञान (psychology) की उतनी प्रगति नहीं हुई थी। जीव विज्ञान (biological science) के अन्तर्गत जिन रहस्यों को मनुष्य आज जान सका है—उन दिनों उन्हें भली-भांति नहीं जाना जा सका था। लिहाजा मन की गति-प्रकृति क्या है—विज्ञान के उस स्तर में मनुष्य समझ नहीं पाया था। नतीजतन काफी परेशानियां हुईं।

विचारधारा भी परिवर्तनशील है

जैसे, फूअरबाख भगवान को नहीं मानते थे–हेगेल का जो निर्विशेष भाव यानी शाश्वत भाव (absolute idea) है, उसे उन्होंने खारिज कर दिया था। उन्होंने भौतिक जगत की व्याख्या भौतिकवादी दृष्टिकोण से की थी, यहां तक कि इस भौतिक जगत के तमाम परिवर्तन द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से ही हो रहे हैं–उन्होंने ये सारी बातें कही। लेकिन आखिर तक उन्होंने कुछ नैतिक संहिताओं (moral codes), कुछ आचार-आचरण संबंधी सिद्धांतों (ethical principles) यानी नीति-नैतिकता संबंधी कुछ शाश्वत धारणाएं पेश की थी। उन्होंने मानवतावादी (humanist) भावना-धारणा के आधार पर कुछ रुचियों, नीतियों व विचारधाराओं को अपरिवर्तनीय या शाश्वत बताया था। उन्होंने कहा था कि मनुष्य की तरक्की, सामाजिक परिवर्तन व उसके विकास के लिए इन शाश्वत सिद्धांतों की जरूरत है–वे ऐसा सोचने लगे थे। लेकिन फूअरबाख इस सच्चाई को समझ नहीं पाये कि सामाजिक प्रगति के साथ-साथ उसके वास्तविक प्रयोजन के साथ संगतिपूर्ण रहते हुए ही नीति-नैतिकता और विचारधारा भी बदलती है और बदलना लाजिमी है। इस बात को नहीं समझ पाने के चलते उन्होंने सिद्धांतों व विचारधाराओं को शाश्वत बना डाला। यहीं उनमें भटकाव आया। वे समझ नहीं पाये कि विचारधारा की भी जन्म और मृत्यु होती है। मनुष्य की जरूरत से, समाज के अंतर्द्वन्द्व की वजह से, मनुष्य के मन और परिवेश के साथ द्वंन्द्व-संघर्ष के जरिये विचारधारा का भी परिवर्तन होता है–यह बात वे समझ नहीं पाये। वे समझ नहीं पाये कि एक विशेष समाज में, एक विशेष स्थिति में एक खास विचारधारा का जन्म होता है, वह पलती-बढ़ती है और फिर एक नये समाज में जाकर उस विचारधारा की मौत हो जाती है और नयी विचारधारा का जन्म होता है। इसलिए विचारधारा भी परिवर्तनशील है और वह गतिशील (dynamic) होती है। इस चलायमान दुनिया में उसके परिवर्तन एवं विकास की एक पद्धति है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण से भौतिक जगत की व्याख्या करना चाहने पर भी फूअरबाख ने इस वस्तुनिष्ठ सत्य को अस्वीकार कर दिया था। फलस्वरूप भौतिकवादी दर्शन का प्रचार करते हुए भी वे भाववाद के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सके।

मार्क्स ने आकर फूअरबाख के मानवतावाद का खंडन किया और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को एक मुकम्मल व समग्र दर्शन यानी विज्ञान आधारित सोच व विचार-विश्लेषण की पद्धति के तौर पर और एक समग्र विज्ञान के तौर पर स्थापित किया। फूअरबाख ने इस जगह पर अगर गलती नहीं की होती, तो इतिहास में शायद वे ही मार्क्स की जगह ले पाते। आज दुनिया के पैमाने पर मार्क्सवादी आंदोलन का जो यश और गौरव है, वह फूअरबाख के नाम के साथ ही जुड़ सकता था। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। फूअरबाख ने जिस जगह पर गलती की, वे जहां फिसल गये, भटक गये, मार्क्स ने वह गलती नहीं की। वे पूरे मामले को संतुलित करने में कामयाब हुए, उसे सही ढंग से संयोजित करने में सक्षम हुए। इस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण भौतिकवादी दर्शन को एक ठोस वैज्ञानिक नींव पर स्थापित किया।

भाववादी और भौतिकवादी दर्शन का विकास

तो हमने क्या पाया? यह कि वर्ग विभाजित समाज के आरंभ से ही भाववादी चिंतन और भौतिकवादी चिंतन अगल-बगल चलते आये हैं तथा विकास किया है। भाववाद अपने विकास के क्रम में एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुंचा। एक समय हिन्दू धर्म में 33 करोड़ देवी-देवताओं का जन्म हुआ। उसके बाद वह घटते-घटते एक ईश्वर, निराकार ब्रह्म हो गया और फिर आगे चलकर भाववादियों ने, यहां तक कि वैज्ञानिक रहस्यवाद (scientific mysticism) को जन्म दिया। यह वैज्ञानिक रहस्यवाद भाववादी दर्शन होते हुए भी उसमें ईश्वर के अस्तित्व से इनकार किया गया है। भाववादी लोग अब इस जगह पर आ गये हैं। इसी प्रकार भाववादी चिंतन अपने विकास के क्रम में इस जगह आ पहुंचा है। फिर इसी के साथ भौतिकवादी दर्शन के परिवर्तन का भी मिलान करके देखिए। आदिम भौतिकवादी चिंतन विकसित होते-होते, विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार से विकसित होते-होते 17वीं-18वीं शताब्दी के यांत्रिक भौतिकवाद (mechanical materialism) में आ पहुंचा था। मैं पहले ही कह चुका हूं कि न्यूटन का विज्ञान और न्यूटनीय भौतिकी (newtonian physics) विज्ञान को काफी हद तक विकसित करने में कामयाब होने के बावजूद, विज्ञान

की कई सीमाबद्धताओं के कारण वस्तु के चरित्र की सही समझ हासिल न कर पाने की वजह से दर्शन के मामले में भौतिकवादी चिंतन को भाववाद के प्रभाव से पूरी तरह से मुक्त नहीं कर सकी। नतीजतन, यांत्रिक भौतिकवाद का जन्म हुआ। लेकिन बाद के जमाने में विज्ञान की काफी तरक्की होने की वजह से वस्तु संबंधी नयी धारणा के आधार पर खड़े होकर और जीव विज्ञान के आविष्कारों से समृद्ध होकर तथा वर्ग संघर्ष के नये अनुभवों के आधार पर मार्क्सवाद का जन्म हुआ—हम यांत्रिक भौतिकवाद के स्तर से ऊपर उठकर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में आ पहुंचे।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद भी एक विज्ञान है

तो इस तरह हम भौतिक जगत के कुछ सामान्य यानी आम सत्यों को जान पाये। इन सारे सत्यों को, सामान्य नीति-सिद्धांतों व नियमों को मनुष्य ने जानना चाहा। भाववादियों, भौतिकवादियों—सभी ने जानना चाहा, जानने की कोशिश की, लेकिन बार-बार ही कुछ जाना, आंशिक तौर पर ही जाना, छिटपुट तौर पर ही जाना और बाकी सब कुछ को उसने मनगढ़ंत धारणा के जरिये गढ़कर मनुष्य पर थोप दिया। लेकिन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही वह पहला दर्शन है, जो वैज्ञानिक निरीक्षण-परीक्षणों, वास्तविक अनुभवों और प्रमाणित सत्यों के आधार पर सही-सही जान सका है कि भौतिक जगत के चलने का नियम क्या है, वस्तु का परिवर्तन कैसे होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कोई भी बात मनगढ़ंत नहीं है। वैज्ञानिक निरीक्षण-परीक्षण के जरिये जो सत्य प्रमाणित सत्य के रूप में स्थापित हो चुके हैं, वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा प्राप्त उन्हीं सत्यों को इकट्ठा कर, संयोजित करके ही उसका दार्शनिक ढांचा तैयार हुआ है। यानी भौतिकी, रसायनशास्त्र, गणित, जीव विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में जो अलग-अलग निरीक्षण-परीक्षण होते हैं, परीक्षणों द्वारा प्राप्त उन सब सत्यों या ज्ञान को संयोजित (co-ordinate) कर जो सामान्य सत्य निर्मित होते हैं, वे ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार हैं। इसलिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी एक विज्ञान है। यह बात जरा और स्पष्ट होनी चाहिए। यानी मैं कहना चाह रहा हूं कि आखिर भौतिकी

(physics) क्या कर रही है? वह वस्तु की गति के नियमों, शक्ति के नियमों का अध्ययन कर रही है, उन्हें जानने की कोशिश कर रही है। रसायनशास्त्र (chemistry) क्या कर रहा है? वह वस्तु की रासायनिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का अध्ययन कर रहा है, उन्हें जानने का प्रयास कर रहा है, उनके नियमों को समझने की कोशिश कर रहा है। इसी प्रकार विज्ञान की विभिन्न शाखाएं वस्तु के विभिन्न नियमों, उनकी गति-प्रकृति को अलग-अलग तरह से जानने की कोशिश कर रही हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, जिसके बारे में मैं यह कह रहा हूं कि वह खुद ही विज्ञान है, वह क्या कर रहा है? वह क्या अध्ययन कर रहा है? वस्तु के उन आम नियमों को, जिन्हें भौतिकी, रसायनशास्त्र, गणित, यानी विज्ञान की विभिन्न शाखाएं मानकर चलती हैं; उन आम नियमों को ही मार्क्सवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जान रहा है। यानी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भौतिक जगत की सम्पूर्ण गतिविधियों को नियंत्रित करने वाले आम नियमों का अध्ययन करता है। (Dialectical materialism studies the general laws which govern the entire activity of the material world.) इसलिए विज्ञान की विभिन्न शाखाएं जहां भौतिक जगत के खास-खास पहलुओं को अलहदा करके जान रही हैं, अध्ययन कर रही हैं—वहीं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उन विभिन्न सत्यों को संयोजित करते हुए आपस में मिलाकर कुछ आम सत्यों पर पहुंच रहा है—जो आम सत्य भौतिक जगत और विज्ञान की तमाम गतिविधियों को निर्देशित करते हैं, संचालित करते हैं। यानी भौतिक जगत जिन मूल नियमों के बाहर नहीं जा सकता, अस्तित्व में नहीं रह सकता—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का काम उन्हीं मूल नियमों या आम सत्यों को ही जानना है। भौतिकी, रसायनशास्त्र आदि विज्ञान की खास-खास शाखाएं जहां भौतिक जगत के खास नियमों, खास गतिविधियों को जान रही हैं, अध्ययन कर रही हैं—वहीं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विज्ञान की इन सारी शाखाओं के और उस पहलू से भौतिक जगत के तमाम मूल नियमों, आम नियमों को जान रहा है, अध्ययन कर रहा है। इस मायने में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही एकमात्र वह दर्शन है, जो पूरी तरह विज्ञान पर निर्भरशील है और स्वयं ही एक विज्ञान है। यहीं पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अन्य दर्शनों से अलग है।

विज्ञान से, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से आज हम एक स्थिर सिद्धांत जान पाये हैं। वह यह कि भौतिक जगत के बाहर किसी भी चीज का कोई अस्तित्व नहीं है। दुनिया में कोई भी किसी ऐसी चीज का अस्तित्व नहीं दिखा पायेगा, जिसका अस्तित्व भौतिक जगत से बाहर हो या जो भौतिक जगत से संपर्कविहीन हो। यह जो ईश्वर या भगवान की धारणा या चिंतन है, यह भगवान का चिंतन भी एक विशेष सामाजिक परिस्थिति के आधार पर कुछ सादृश्यों को देखकर अज्ञानतावश गलत ढंग से तुलना करके आया है–यह चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूं। जो ईश्वर-चिंतन गलत और असत्य है, सही विज्ञान का जन्म न होने की वजह से उस ईश्वर को जहां अब तक भौतिक जगत का सृष्टिकर्ता मान लिया गया है, वहीं विज्ञान कहता है कि दरअसल एक विशेष वस्तुनिष्ठ परिस्थिति में इस गलत धारणा का जन्म हुआ। जिस मन या भाव को अनेक लोग वस्तु से बाहर की सत्ता मानते हैं, वह मन दरअसल वस्तु की क्रिया की उपज है। विज्ञान कहता है, 'मन मानव-मस्तिष्क की विशेष क्रिया का ही फल है।' (mind is the particular function of the human brain) हम जानते हैं कि मनुष्य का यह मस्तिष्क वस्तु द्वारा निर्मित है। इसलिए मनुष्य भगवान का चिंतन कर रहा है, जिस मन से कर रहा है–जिसके जरिये यह भगवान का चिंतन कर रहा है, वह है मनुष्य का मस्तिष्क और मनुष्य का यह मस्तिष्क वस्तु से बना है। इसलिए कहा जाता है कि मनुष्य का मस्तिष्क मतलब वस्तु ही एक खास परिस्थिति में पड़कर भगवान का चिंतन कर रही है, जिस स्थिति में मनुष्य के गुमराह होने के पर्याप्त कारण मौजूद थे। जैसे आज पूंजीपति लोग तरह-तरह की बातें समझाते हैं–क्या आप लोग उन सारी बातों पर विश्वास करते हैं? हम जानते हैं, आप भी जानते हैं कि वे सारी बातें सच नहीं हैं। लेकिन यह बात तो सच है कि ऐसे प्रचार से कुछ लोग गुमराह हो जाते हैं और झूठ को सच मान लेते हैं। वे इस तरह गुमराह क्यों हो रहे हैं? क्योंकि गुमराह होने लायक माहौल आज काफी मजबूती से मौजूद है। इसी वजह से उन सब लोगों के गुमराह होने की गुंजाइश है। ठीक इसी प्रकार गुमराह होने लायक परिस्थिति रहने के चलते ही भगवत-धारणा या ईश्वरवाद का जन्म हुआ। नहीं तो बात ऐसी नहीं है कि ईश्वर

दुनिया में वस्तु से बाहर की कोई सत्ता है। विज्ञान कहता है कि हम जो कुछ भी देख रहे हैं, वह सब कुछ वस्तु द्वारा ही निर्मित हैं, वस्तु से परे कुछ नहीं है। वस्तु से ही वस्तु, वस्तु से ही भौतिक जगत की सृष्टि होती है। इसलिए हम वस्तु से परे कुछ भी चिंतन नहीं कर सकते, कल्पना नहीं कर सकते। यही विज्ञान की जांची-परखी सच्चाई है।

मार्क्सवाद का काम दुनिया को सिर्फ जानना ही नहीं, बल्कि इसे बदलना भी है

तो हमने देखा कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का निर्माण एक दिन में नहीं हो गया। मार्क्सवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के निर्माण के पीछे एक लम्बा इतिहास रहा है। समाज के भौतिकवादी चिंतन का कदम-दर-कदम विकास होते हुए विज्ञान की तरक्की, उत्पादन व्यवस्था की तरक्की, सामाजिक व्यवस्था के अनेक परिवर्तनों के जरिये और मानव इतिहास से संचित ज्ञान द्वारा समृद्ध होकर, कुछ आम सत्यों और वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा प्राप्त नियमों के आधार पर ही मार्क्सवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का निर्माण हुआ है। अन्य दर्शनों से इसका तफर्का यह है कि यह विज्ञान पर आधारित है। इसलिए यह वैज्ञानिक तथ्यों और वैज्ञानिक सत्यों को नकार कर वस्तु-निरपेक्ष सत्ता की खोज नहीं करता। वस्तु निरपेक्ष सत्ता–जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं है–उसे यह स्वीकार नहीं करता है। इसके अनुसार दर्शन का काम, ज्ञान की साधना का उद्देश्य दुनिया को सिर्फ जानना ही नहीं, मात्र उसकी व्याख्या करना ही नहीं, बल्कि दुनिया में हर पल जो परिवर्तन हो रहे हैं, समाज में जो परिवर्तन हो रहे हैं, परिवर्तन के उन नियमों को समझ कर उसके आधार पर उस परिवर्तन की प्रक्रिया पर प्रभाव डालना, उस परिवर्तन को तेज करना, निरंतर बदल रही दुनिया को और बदलने में मदद करना और दुनिया को और भी बदल डालना है। यही है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के निर्माण का बहुत ही संक्षिप्त इतिहास। इसके बाद हम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के कुछ पहलुओं के बारे में, वस्तु संबंधी आज की धारणा और उसके परिर्वतन के नियमों के संबंध में कुछ चर्चा करेंगे।

आधुनिक विज्ञान में वस्तु संबंधी धारणा

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार भौतिक जगत ही एकमात्र सत्य है। वस्तु से ही सब कुछ बना है। यह वस्तु निर्विशेष वस्तु है, जिसका आदि भी नहीं है, अंत भी नहीं। यानी खास-खास वस्तुओं के समन्वय से वस्तु का जो सामग्रिक रूप निर्मित हुआ है, जो सर्वव्यापक और सार्वजनीन (universal) है–जिसके आधार पर ही वस्तु संबंधी धारणा (matter concept) निर्मित हुई है, उसी वस्तु को मैं निर्विशेष वस्तु कह रहा हूं। यह वस्तु दार्शनिक वस्तु है, दार्शनिक श्रेणी (philosophical category) में ही आती है। इसे किसी ने पैदा नहीं किया, यह स्वयं सम्पूर्ण है। यह भौतिक जगत भी स्वयं सम्पूर्ण है। लेकिन यह वस्तु और भौतिक जगत सतत परिवर्तनशील है। हर पल उसमें परिवर्तन हो रहा है और उसका क्रमशः विकास भी हो रहा है। यह वस्तु द्वन्द्वात्मक वस्तु (dialectical matter) है। इस भौतिक जगत की विशेषता है कि जहां जो कुछ भी अवस्थित है, उसमें जहां अन्दरूनी द्वन्द्व मौजूद है, वहीं साथ-ही-साथ उसका परिवेश से बाहरी द्वन्द्व भी रहता है। इन दोनों द्वन्द्वों के बीच, वस्तु के अन्दरूनी द्वन्द्व और बाहरी द्वन्द्व के बीच वस्तु हमेशा घिरी हुई होती है। यही है वस्तु की स्थिति की विशेषता, यही है वस्तु का चरित्र। वस्तु जड़ वस्तु नहीं, यंत्रवत वस्तु नहीं, निष्क्रिय, निश्चल, अचल और अपरिवर्तनीय वस्तु नहीं है। यह गतिशील वस्तु है, चलायमान वस्तु है, द्वन्द्वात्मक वस्तु (dialectical matter) है। यानी यह वह वस्तु है, जिसमें अन्दरूनी द्वन्द्व और बाहरी द्वन्द्व है और इन द्वन्द्वों ने ही उसे गतिशील और परिवर्तनशील बनाया है। यह वस्तु सतत परिवर्तनशील है, सतत गतिशील है। यह कहीं भी एक जगह रुकती नहीं है। हम देख पायें या नहीं, लेकिन हर जगह और हर पल वस्तु में परिवर्तन हो रहा है। हां, कहीं इस परिवर्तन की गति तेज है, तो कहीं धीमी। प्रत्येक क्षण होने वाला यह परिवर्तन इतनी धीमी गति से हो रहा है कि हम बाहर से उसे देख ही नहीं पाते। लगता है जैसे चीजें एक ही जगह पर खड़ी हैं। लेकिन असल में बात ऐसी नहीं है। चीजें एक जगह एक ही स्थिति में खड़ी नहीं हैं। यह परिवर्तन सतत, हर पल और हर क्षेत्र में हो रहा है।

इस परिवर्तन में हम कुछ नियम देखते हैं। वे नियम कौन से हैं?

दुनिया में जहां भी, जो कुछ परिवर्तन हो रहा है, वस्तु की तमाम गतिविधियों में हर जगह हम तीन बुनियादी आम नियमों को देखते हैं। वस्तु के तमाम परिवर्तन इन्हीं तीन बुनियादी आम नियमों (three principals) द्वारा संचालित (guided) होते हैं। वे तीन बुनियादी आम नियम कौन-कौन से हैं?

1. मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन और वाइस-वरसा (From Quantitative change to Qualitative change and vice-versa) : मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन होता है। फिर वह गुणात्मक परिवर्तन आगे के मात्रात्मक परिवर्तन में मदद करता है। यह प्रक्रिया है धीरे-धीरे परिवर्तन, मात्रात्मक परिर्वतन और क्रमिक परिवर्तन होते-होते पूरी तरह से एक नयी चीज को जन्म देना। हर वस्तु में हर पल परिवर्तन हो रहा है। लेकिन इस परिवर्तन के साथ-साथ तत्काल उसका मौलिक रूप नहीं बदल जाता। हर पल होने वाले इस परिवर्तन के बावजूद जब तक उस वस्तु के मौलिक चरित्र में कोई परिवर्तन नहीं हो जाता, तब तक उस परिवर्तन को हम मात्रात्मक परिवर्तन कहते हैं। लेकिन उस मात्रात्मक परिवर्तन के होते-होते ज्यों ही एक ऐसी परिस्थिति पैदा होती है, जब वस्तु की चारित्रिक विशेषता ही बदल जाती है, या वह एक नयी वस्तु में तब्दील हो जाती है, त्यों ही उसे हम गुणात्मक परिवर्तन, मौलिक परिवर्तन, क्रांतिकारी परिवर्तन आदि कहते हैं। इसलिए पुरानी वस्तु के साथ उसका ऐतिहासिक लगाव तो रहता है, लेकिन चारित्रिक विशेषता की जहां तक बात है, उसमें बुनियादी फर्क आ जाता है, उस पहलू से कोई मेल या लगाव खोजे नहीं मिलता। मोटे तौर पर संक्षेप में कहा जाये तो यही है 'मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन और वाइस वरसा' का अर्थ।

2. परस्पर-विरोधी ताकतों की एकता (Unity of opposites) : इसका अर्थ है कि दो परस्पर-विरोधी ताकतों की एकता। वस्तु में जैसे द्वन्द्व चल रहा है, संघर्ष चल रहा है–उस द्वन्द्व में ही हम वस्तु का एक और रूप देखते हैं, वह है समन्वय का रूप, मिलन का रूप। यानी द्वन्द्व में भी मिलन का चरित्र मौजूद रहता है। जहां परस्पर-विरोधी ताकतें परस्पर-विरोधी द्वन्द्व यानी विरोधात्मक द्वन्द्व को लेकर मौजूद हैं–एक-दूसरे का खात्मा चाहती हैं, वे भी एक विशेष स्थिति में इस

खात्मे से पहले तक द्वन्द्व के इस परस्पर-विरोधी रूप में रहने के बावजूद सम्मिलित रूप से मौजूद रहती हैं। इसी नियम के आधार पर हमारा परिवर्तन, रोजाना का परिवर्तन हो रहा है। परिवर्तन की प्रक्रिया में संघर्ष के अंदर मिलन का यह रूप और चरित्र हमें देखने को मिलता है। हममें से कोई भी इस नियम के बाहर नहीं जा सकता–इस नियम को न मानकर चलने की गुंजाइश नहीं है। यह नियम हमें सर्वत्र देखने को मिलता है।

3. निषेध से निषेध (Negation of the negation) : विकास के रास्ते विलोप और विलोप के रास्ते विकास। समाज के मामले में, भौतिक जगत के मामले में, हर क्षेत्र में विकास और परिवर्तन का यही नियम है। भौतिक जगत का लगातार विकास हो रहा है। इस विकास का तौर-तरीका क्या है? यह है क्रमशः अपने को, अपने अस्तित्व को क्षय करने, ध्वंस करने के जरिये ही नये का जन्म हो रहा है, सतत (constant) ध्वंस के जरिये ही नये की पैदाइश होती है। अपने को हमेशा नये रूप में क्षय करना और उसी रास्ते नये को जन्म देना।

वैज्ञानिक निरीक्षण-परीक्षण के जरिये भौतिक जगत के नियमों व गतिविधियों के मामले में हम इन्हीं तीन बुनियादी आम नियमों को देखते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने विज्ञान के परीक्षित सत्य के तौर पर ही वस्तु के परिवर्तन के इन तीन बुनियादी आम नियमों को अपनाया है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने प्रमाणित कर दिखाया है कि भौतिक जगत के परिवर्तन के सभी क्षेत्रों में ये तीनों बुनियादी आम नियम लागू हैं। आप लोगों को एक और बात जान लेनी चाहिए। वह यह कि जिस द्वन्द्व के बारे में हम चर्चा कर रहे हैं, वह द्वन्द्व भी दो प्रकार का होता है–विरोधात्मक और मिलनात्मक द्वन्द्व। जहां द्वन्द्व का मुख्य उद्देश्य है एक-दूसरे को खत्म करना, उसे हम विरोधात्मक द्वन्द्व कहते हैं। मजदूर और मालिक के बीच जो लड़ाई है, उस लड़ाई का उद्देश्य होता है एक-दूसरे को कुचल डालना, एक के द्वारा दूसरे को उखाड़ फेंकना। फिर मजदूर-मजदूर के बीच जो द्वन्द्व है, उस द्वन्द्व का उद्देश्य है एक-दूसरे का दिल जीतना, समझाना और आपसी एकता को मजबूत यानी पक्का करना। हम इस द्वन्द्व को मिलनात्मक द्वन्द्व कहते हैं। मजदूर वर्ग की पार्टी में यह जो द्वन्द्व रहता है, इसकी मूल नीति है

आलोचना-आत्मालोचना, इसके जरिये पार्टी को ताकतवर बनाना, एकता को सुदृढ़ करना, एकता को मजबूत करना।

वस्तु के परिवर्तन के इन तीन बुनियादी आम नियमों के बारे में अति संक्षिप्त चर्चा करने को मैं बाध्य हुआ। इस चर्चा को अनेक लोग काफी विस्तार के साथ पहले भी सुन चुके हैं। समय की कमी की वजह से ही इस चर्चा को मैं यहां काफी संक्षिप्त करने को मजबूर हुआ। सिर्फ इतना ही नहीं, बल्कि मार्क्सवाद और मानव समाज के विकास के संबंध में मैंने यहां जो थोड़ी-बहुत चर्चा की, वह भी अत्यंत प्राथमिक और संक्षिप्त है। ज्ञान मीमांसा (theory of knowledge) के विभिन्न पहलुओं और विज्ञान के विभिन्न आविष्कारों को लेकर चर्चा करने की यहां गुंजाइश नहीं है। फिर भी आप लोगों के जो सवाल हैं, आप उन्हें रखेंगे। मैं 'कृषक ओ खेत मजदूर फेडरेशन' के इस सम्मेलन के दूसरे सत्र में मौजूदा राजनैतिक परिस्थिति की पृष्ठभूमि में संगठन संबंधी कुछ चर्चा करूंगा। पहले सत्र की चर्चा, यानी मार्क्सवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विकास संबंधी संक्षिप्त चर्चा को मैं आज यहीं खत्म करता हूं।

उत्तर चौबीस परगना के भाटपाड़ा में आयोजित 'पश्चिम बंग कृषक ओ खेत मजूर फेडरेशन' के दसवें वार्षिक सम्मेलन के अवसर पर 18 जून, 1960 को हुए एक राजनैतिक शिक्षण शिविर में दिया गया भाषण। 1982 में बांग्ला में किताब के रूप में पहली बार प्रकाशित। इसके बाद हिन्दी में भी अनुदित कर किताब के रूप में कई बार प्रकाशित।